मानव-सेवा-संघ
श्री वृन्दावन,
मथुरा।

मुद्रक—
राममोहन शास्त्री,
श्रीगोविन्द मुद्रणालय,
दुलानाला, काशी।

ॐ

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख दुख के
बंधन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृत कृत्य हो जावें।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

*परिचय

"सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि में सीमित नहीं हो सकता। सत्य अपना परिचय देने में स्वयं स्वतंत्र है।" ये शब्द हैं उन सन्त के, जिनकी अमृत-वाणी इस पुस्तक में संगृहीत हुई है। इसी अटल सत्य को लक्ष्य में रखकर आग्रह करने पर भी स्वामी-जी ने अपना शरीर-सम्बन्धी नाम तथा चित्र इस पुस्तक के साथ देने की अनुमति नहीं दी। इस सत्य का आदर करना मेरे लिए भी अनिवार्य है। अतः जो सत्य स्वामीजी की वाणी के रूप में प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध मे अपनी ओर से कुछ कहने या उसका परिचय देने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी।। वह तो स्वयं प्रकाश-मय है, और केवल अपना परिचय देने में ही नहीं, बल्कि श्रद्धालु पाठकों के हृदयों को भी आलोकित करने मे स्वयं समर्थ है। मुझे जोकुछ कहना है, वह केवल इस संग्रह के विषय में है; क्योंकि इसका एक इतिहास है, जिसका संक्षेप में यहां देना अप्रासंगिक न होगा।

सन् १९४० ई० मे लखनऊ के कुछ भक्तों को श्री स्वामी जी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे भक्त स्वामी जी के शब्द लिपि-बद्ध करते गए। पीछे से श्री गणेश प्रसाद जी तथा श्री नानक प्रसाद जी के प्रयत्न से उनकी वाणी का वह संग्रह "सन्त-

---

* संत-समागम प्रथम भाग से उद्धृत।

स्थापना हुई। तब कुछ भाइयों ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी की वाणी का प्रकाशन और प्रचार 'संघ' के द्वारा ही होना उचित है। इसी इच्छा का आदर करके सन्त-समागम के दोनों भाग 'मानव-सेवा-संघ' द्वारा प्रकाशित किए जा रहे हैं। इस नये संस्करण में प्रथम भाग तो अपने पूर्व-रूप में ही निकल रहा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। द्वितीय भाग के पूर्व-संस्करण में कुछ अंश भूल से दोबार छप गए थे। इस संस्करण में भी उनमें से लगभग तीन पृष्ठ, भूल पकड़े जाने के पहले ही दुबारा छप गए, शेष दुबारा छपा अंश निकाल दिया गया है। उसके स्थान में स्वामी जी का एक व्याख्यान, 'सुधार की आंधी' नाम से पूर्व-प्रकाशित एक निबन्ध, एक सन्तवाणी और कुछ अप्रकाशित पत्र बढ़ा दिये गए हैं। शेष संग्रह पूर्ववत् है।

सन्तसमागम पुस्तक के रूप में नहीं लिखा गया है, और न वह क्रम-बद्ध निबन्धों का संग्रह ही है। सत्संगों में जिस क्रम से प्रश्न उठे, उसी क्रम से उनके उत्तरों का संग्रह किया गया। इसी प्रकार पत्र भी विषय के अनुसार क्रमबद्ध न होकर प्रायः लिखे जाने की तिथियों के क्रम से ही रक्खे गये हैं। पुस्तकों के विभिन्न अंश विषय को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार की स्वाभाविक शृंखला में गुंफित रहते हैं, उस प्रकार की शृंखला का यहां अभाव है। पुस्तक पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। पत्रों में भी व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर तथा व्यक्तिगत-समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न है; अतः प्रसंग के अनुसार ही सब कहीं

अर्थ लगाना समीचीन हो सकता है। कई बातें प्रसंग-वश अनेक बार भी आगई हैं, किन्तु उन्हें भिन्न २ रूप में पढ़ने से समझने में सहायता ही मिलती है।

संग्रह करने तथा प्रकाशन के अन्य कार्यों में जिन जिन मित्रों ने सहायता की है, हम उन सब के बड़े आभारी हैं। इस नये संस्करण का निकलना श्री पथिक जी महाराज तथा श्री जगन्नाथ प्रसाद जी की आर्थिक सहायता से ही सम्भव हुआ है। अतः हम उनके विशेष ऋणी हैं।

जयपुर
अनन्त चतुर्दशी,
संवत् २०१० विक्रमीय

मदनमोहन वर्मा
प्रधान,
मानव-सेवा-संघ।

संत-समागम

भाग २

संत-समागम

भाग १

हमारी आवश्यकता

अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्नता से एकता होनी सर्वदा असम्भव है जिस प्रकार श्रवण ने शब्द से भिन्न कुछ नहीं सुना, नेत्र ने रूप से भिन्न किसी भी काल में कुछ नहीं देखा, तथा त्वचा ने स्पर्श से भिन्न, रसना ने रस से भिन्न एवं नासिका ने गंध से भिन्न किसी का अनुभव नहीं किया, क्योंकि श्रवण की आकाश तथा शब्द से ही, नेत्र की अग्नि तथा रूप से, त्वचा की वायु तथा स्पर्श से, रसना की जल तथा रस से और नासिका की पृथ्वी तथा गंध से ही जातीय एकता है और मन बुद्धि आदि अन्तःइन्द्रियों की श्रवण नेत्र आदि वाह्य इन्द्रियों से एवं प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की प्रत्येक कर्मेन्द्रिय से जातीय एकता है। (यदि ऐसा न होता, तो अन्तः इन्द्रियों के अनुरूप वाह्य इद्रियां चेष्टा न करतीं। अन्तः एवं वाह्य इन्द्रियों का कारण-कार्य-सम्बन्ध

है। प्रत्येक कार्य कारण में विलीन होता है। कारण कार्य के बिना भी रह सकता है, किन्तु कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता। कारण में स्वतन्त्रता अधिक होती है और कार्य में गुणों की विशेषता होती है। कारण सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है और कार्य स्थूल एवं व्यक्त होता है। जो सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है, वह स्थूल एवं व्यक्त की अपेक्षा अधिक विभु होता है।)

इसी कारण अन्तःइन्द्रियों की प्रेरणा से ही बाह्य-इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं; उसी प्रकार हमारी अपने निज-स्वरूप (नित्य-जीवन) से एकता है, अतः हमारे लिये नित्य जीवन का अनुभव करना परम अनिवार्य है। शरीर विश्व से भिन्न नहीं हो सकता और हमारी शरीर से काल्पनिक सम्बन्ध के अतिरिक्त जातीय कता कदापि नहीं हो सकती (अर्थात् शरीर विश्व से और हम विश्वनाथ से ही अभेद हो सकते हैं), क्योंकि हम यही स्वाभाविक कथन चिन्तन करते हैं कि शरीर हमारा है; 'हम शरीर हैं' ऐसा कोई भी प्राणी कथन नहीं करता। (काल्पनिक सम्बन्ध भी दो प्रकार के होते हैं। भेद-भाव का सम्बन्ध तथा अभेद-भाव का सम्बन्ध। माना हुआ 'मैं' अभेद भाव का सम्बन्ध और माना हुआ मेरा' भेद भाव का सम्बन्ध है। अभेद भाव का सम्बन्ध केवल अपनी स्वीकृति के आधार पर जीवित रहता है और भेद भाव का सम्बन्ध माने हुए सम्बन्ध के अनुरूप चेष्टा करने पर प्रतीत होता रहता है। प्रतीति निज सत्ता के बिना किसी और की सत्ता के आधार पर भी किसी कारण-वश हो

सकती है, जैसे मृग-तृष्णा का जल।)

जिस प्रकार प्रत्येक मित्र अपने मित्र के दुःख-सुख से मैत्री सम्बन्ध के कारण, दुखी सुखी होकर अपने को दुखी-सुखी समझने लगता है, उसी प्रकार हम शरीर के सुख-दुख आदि स्वभाव को अपने में आरोपित करने लगते हैं, किन्तु हमारी स्वाभाविक अभिलाषा शरीर-सम्बन्ध से पूर्ण नहीं हो पाती, अतः हमको अपने लिये अपने प्रेमपात्र अर्थात् नित्य जीवन की आवश्यकता शेष रहती है। उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमको अनित्य जीवन से भिन्न नित्य जीवन की ओर जाना अनिवार्य हो जाता है।

अब हम अपने नित्य जीवन को कैसे जानें? यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है। यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी स्वीकृति करता है, परन्तु अपने वास्तविक निज स्वरूप (नित्य जीवन) को जानने से इन्कार करता है, यह कैसे आश्चर्य की बात है। **स्वाभाविक अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का निज-स्वरूप कुछ नहीं हो सकता।** अब विचार यह करना है कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा क्या है? प्रत्येक प्राणी अपने में किसी प्रकार की कमी रखना नहीं चाहता, क्योंकि कमी का अनुभव होते ही दुःख का अनुभव होता है। यद्यपि दुःख किसी भी प्राणी को प्रिय नहीं, परन्तु फिर भी अपने आप आता है। जो अपने आप आता है, उससे हमारा हित अवश्य होगा, यदि उसका सदुपयोग किया जावे, क्योंकि यदि दुःख न आता तो हम

अस्वाभाविक अनित्य जीवन से विरक्त नहीं हो सकते थे। अथवा यों कहो कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा जो अस्वाभाविक इच्छाओं द्वारा दबा कर निर्बल बना दी गई थी, सबल न हो पाती। अतः दुःख की कृपा से हम जाग्रत हो जाते हैं। इस दृष्टि से दुःख आदरणीय अवश्य है। कोई भी प्राणी तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक उसे स्वयं अपनी दृष्टि से अपनी कमी का अनुभव न हो। विचारशील प्राणी कमी का अनुभव कर उसका नितान्त अन्त करने के लिये घोर प्रयत्न करते हैं, अतः हमको अपनी कमी का अन्त करने के लिये अखण्ड प्रयत्न करना चाहिये।

हम कब तक दुखी होते रहते हैं? जब तक हम किसी को भी अपने से सबल, स्वतन्त्र तथा श्रेष्ठ पाते हैं। अतः हमको पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ होने की स्वाभाविक अभिलाषा है। (जो स्वतन्त्र है, वही सबल तथा श्रेष्ठ है।) यह नियम है कि क्रिया से भिन्न कर्ता का स्वरूप कुछ नहीं होता। जैसे देखने की क्रिया से भिन्न नेत्र कुछ नहीं।

अभिलाषा क्रिया है, अतः जो हमारी अभिलाषा है वही हमारा स्वरूप है, इस दृष्टि से यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ हो सकते हैं, क्योंकि अपने को अपने स्वरूप से कोई भी भिन्न नहीं कर सकता। अतएव स्वाभाविक अभिलाषा का पूर्ण होना

अनिवार्य है।

क्या हमारी स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिये यह संसार (जो प्रतीत होता है) समर्थ है? यदि बेचारा संसार समर्थ होता, तो क्या हम इसके होते हुए भी निर्बलता एवं परतन्त्रता आदि बन्धनों में बँधे रहते? कदापि नहीं। हमको परतन्त्रता, निर्बलता आदि बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये केवल अपनी ओर देखना होगा। हम उसी दोष का अन्त कर सकते हैं, जो हमारा बनाया हुआ है, क्योंकि किसी और की बनाई हुई वस्तु को कोई और नहीं मिटा सकता। जब हम विचार करते हैं, तो यही ज्ञात होता है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति हमारी स्वीकार की हुई अहंता के अनुरूप ही होती है, क्योंकि बेचारी प्रवृत्ति तो अन्त मे केवल स्वीकार की हुई अहंता को ही पुष्ट करती है। अतः अहंता से भिन्न प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जब तक हम दोष-युक्त अहंता को स्वीकार करते रहेंगे तब तक दोष-युक्त प्रवृत्ति होती ही रहेगी अर्थात् मिट नहीं सकती। स्वीकृत की हुई अहंता को अपने से अतिरिक्त और कोई परिवर्तित नहीं कर सकता, अर्थात् अस्वाभाविक काल्पनिक सदोष स्वीकृति को हम स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। दोष-युक्त अहंता के मिट जाने पर दोष युक्त प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। क्योंकि कारण के बिना कार्य किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम अपने बनाये हुए दोष का स्वयं अन्त कर सकते हैं, अर्थात् किसी

और के बनाये हुए दोष को कोई और नहीं मिटा सकता।

जब हम अपने बनाये हुए दोष का अन्त कर डालेंगे, तब आनन्दघन भगवान् एवं जगत् हमारे साथ अवश्य होंगे, क्योंकि **निर्दोषता सभी को प्रिय होती है।** अथवा यों कहो कि यह (प्रतीत होनेवाला) जगत् और वह (जिसकी खोज जगत् करता है) परमात्मा, इन दोनों को हम अपने में ही पायेंगे, क्योंकि स्वाभाविक अभिलाषा 'है' (अस्ति) की होती है। अस्तितत्त्व ही ईश्वर-भक्तों का ईश्वर तथा जिज्ञासुओं का ज्ञान एवं तत्त्व-वेत्ताओं का निज स्वरूप तथा प्रेमियों का प्रेमपात्र है। क्योंकि **सचाई में कल्पना-भेद भले ही हो वस्तु-भेद नहीं हो सकता।**

अपनी ओर देखने का प्रयत्न क्या है? अपनी ओर देखने के लिये प्राणी को, सबसे प्रथम अपनी स्वाभाविक अभिलाषा को स्थायी करना होगा। ज्यों-ज्यों स्वाभाविक अभिलाषा स्थायी होती जायगी, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छायें उसी प्रकार स्वाभाविक अभिलाषा में गलकर विलीन होती जायेंगी, जिस प्रकार बर्फ़ गलकर जल हो जाती है। जिस प्रकार बर्फ़ गलकर नदी होकर स्वयं अपनें प्रेमपात्र समुद्र से मिलकर अभेद हो जाती है, उसी प्रकार अस्वाभाविक सर्व इच्छायें स्वाभाविक (नित्यानन्द की) अभिलाषा में बदलकर स्वाभाविक अभिलाषा अपने प्रेमपात्र आनन्द से अभेद हो जाती है। उसको अपने प्रेमपात्र तक पहुँचने के लिये अपने से भिन्न किसी और की

सहायता की आवश्यकता कदापि नहीं होती। अर्थात् वह स्वतन्त्रतापूर्वक परम स्वतन्त्र तत्त्व से अभेद हो जाती है। क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन कभी परतन्त्रता नहीं हो सकती- अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन भी स्वतन्त्र है, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राणी को निज की वस्तु है। वह हमारा त्याग कर ही नहीं सकती। हमारा त्याग वही करता है जो वास्तव में हमारा नहीं है। अर्थात् जिससे जातीय भिन्नता है। यदि आनन्द से जातीय भिन्नता होती तो, हमको आनन्द की स्वाभाविक अभिलापा किसी प्रकार नहीं हो सकती थी और यदि परतन्त्रता (दुःख) से जातीय भिन्नता न होती, तो हमको उससे अरुचि न होती। आनन्द की स्वाभाविक अभिलापा आनन्द से जातीय एकता सिद्ध करने में स्वयं समर्थ है। स्वाभाविक अभिलाषा स्वयं अपनी अनुभूति के बिना नहीं होती और अनुभूति जातीय एकता के बिना नहीं होती, अतः आनन्द (स्वतन्त्रता) से आनन्द के अभिलाषी को जातीय एकता स्वीकार करना परम अनिवार्य है। केवल प्रमाद के कारण बेचारा प्राणी स्वतन्त्रता से निराश हो जाता है, जो वास्तव में नहीं होना चाहिये, क्योंकि परतन्त्रतायुक्त जीवन मानवता के विरुद्ध पशुता है। वास्व में तो परतन्त्रता आदि सभी दोष अपने बनाये हुए खिलौने हैं, जब चाहें स्वयं तोड़ सकते हैं। पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिये प्राणी स्वेच्छापूर्वक सर्वदा स्वतन्त्र है क्योंकि परतन्त्रता को सबलता अपनी ही दी हुई है। यदि हम परतन्त्रता

स्वीकार न करें तो बेचारी परतन्त्रता किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकती। यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है, अतः हमको सत्य का आदर करना चाहिये।

जब हम अपने को किसी न किसी सीमित भाव में बांध लेते हैं, तब हमारे उस सीमित अहंभाव से अनेक प्रकार की अस्वाभाविक इच्छायें उत्पन्न होने लगती हैं और फिर हम उन्हीं इच्छाओं के अनुरूप अपने को वस्तुओं में, अवस्थाओं में एवं परिस्थितियों में बाँध लेते हैं। बस उसी काल से हमारे हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलने लगती है। यदि हम शरीर तथा वस्तु आदि में अपने को न बाँध लेते, तो हमको अपने लिये किसी भी वस्तु की आवश्यकता न होती। **वस्तुओं के दासत्व ने हमको नित्य जीवन से विमुख कर अनित्य जीवन में बाँध दिया है।**

जिस प्रकार परतन्त्रता वास्तव में स्वतन्त्रता की अभिलाषा है, उसी प्रकार अनित्य जीवन नित्य जीवन की अभिलाषा है और कुछ नहीं गहराई से देखिये कि निर्धनता क्या है? धन की अभिलाषा, वैसे ही अस्वाभाविक अनित्य जीवन क्या है? स्वाभाविक नित्य जीवन की अभिलाषा। यदि हम अपने स्वीकार किये हुए सीमित अहंभाव का अन्त कर डालें, तो हम वर्तमान में ही नित्य जीवन का अनुभव सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। भविष्य की आशा तो हमको केवल तब करनी पड़ती है, जब हम अस्वाभाविक परतन्त्रता-युक्त जीवन का

उपभोग करते हैं, अथवा यों कहो कि भविष्य की आशा तब करनी पड़ती है कि जब हम संगठन से उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनशील रस का पान करते हैं। जो नित्य आनन्द केवल त्याग से प्राप्त होता है, उसके लिये भविष्य की आशा करना एकमात्र प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता।

हम पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिये परतन्त्र नहीं हैं, यह हमारे निज स्वरूप (जो सर्वकाल में है) की महिमा है कि बेचारी परतन्त्रता को भी सान्निध्यमात्र से सत्ता मिल जाती है। यह नियम है कि जिसकी सत्ता भास होने लगती है, उसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है, प्रियता आते ही अस्वाभाविक परिवर्तनशील जीवन में आसक्ति हो जाती है, बस यही परतन्त्रता की सत्ता है और कुछ नहीं। यदि हम स्वयं अपने ऊपर अपनी कृपा करें, तो निर्जीव परतन्त्रता स्वतन्त्रता में विलीन हो सकती है।

हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि जो हमसे भिन्न हैं, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भला जिन बेचारों का जीवन केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है उनमें हमारे ऊपर कृपा करने की शक्ति कहाँ? हम अपनी की हुई स्वीकृति को स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। सभी परिवर्तनशील क्रियाओं का जन्म हमारी अस्वाभाविक काल्पनिक स्वीकृति के आधार पर होता है। अतः मानी हुई अहंता

(सीमित अहंभाव) का अन्त होते ही सभी चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। चेष्टाओं का अन्त होने पर हम अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर परम स्वतन्त्र हो जाते हैं, क्योंकि हमारी सभी चेष्टायें उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक हम अपनी पूर्ति के लिये अपने से भिन्न शरीरादि वस्तुओं की आशा करते हैं और वस्तुओं की आशा तब तक करते हैं जब तक स्वाभाविक अभिलाषा अस्वाभाविक इच्छाओं को खा नहीं लेती। स्वाभाविक अभिलाषा पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाने पर अस्वाभाविक इच्छायें (विषय-वासना) भस्मीभूत हो जाती हैं। वस्तु आदि की वासनायें निवृत्त होने पर इन्द्रिय, मन-बुद्धि आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय, मन आदि यन्त्रों की आवश्यकता तब तक ही रहती है, जब तक हम शरीरादि वस्तुओं का दासत्व करते रहते हैं, अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि वस्तुओं का संगठन हमको हमारे प्रेम-पात्र का अनुभव नहीं होने देता, प्रत्युत संसार के दासत्व की ओर ही ले जाता है।

जब हम मन, इन्द्रिय आदि के संगठन से अपने को असंग कर लेते हैं, तब वे बेचारे अचेष्ट होकर हमारे में ही सम हो जाते हैं और हम अपने परम स्वतन्त्र नित्य जीवन में विलीन हो अभेदता का अनुभव करते हैं। यह नियम है कि सर्व वासनाओं का अन्त होने पर सर्व चेष्टाओं का (जो कर्ता भोक्ता भाव से उत्पन्न होती हैं) अन्त हो जाता

है और सर्व चेष्टाओं का अन्त होने पर सर्व वासनायें एक ही स्वाभाविक अभिलाषा में विलीन हो जाती हैं। अभिलाषा की पूर्णता (अर्थात् उसकी पूर्ण जाग्रति) स्वयं अभिलाषी से अभेद कर देती है। अतः हम, चेष्टाओं का अन्त होते ही, प्रेम-पात्र का अनुभव कर लेते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ण जाग्रति होते ही परतन्त्रतादि सर्व दोष निर्मूल हो जाते हैं।

यद्यपि प्रवृत्तियों के बदलने से भी अहंता बदल जाती है, परन्तु अहंता के बदलने से प्रवृत्ति समूल बदल जाती है, क्योंकि प्रवृत्ति परिवर्तन द्वारा अहंता बदलना, अहंता-परिवर्तन द्वारा प्रवृत्ति बदलने की अपेक्षा अधिक कठिन है। प्रवृत्तियों के निरोध से तो स्वीकृत किया हुआ सीमित अहंभाव स्वाभाविक परम पवित्र स्वतन्त्र निर्विकार नित्य तत्त्व में वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे कि बीज अपना स्वभाव जीवित रखते हुए भी गलकर पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों में स्थित हो जाता है। अपने में स्थित हुए बीज को पृथ्वी, जल आदि सभी तत्त्व उसके स्वभावानुसार सर्वदा सत्ता देकर विकसित करते रहते हैं, उसी प्रकार निर्विकार नित्य तत्त्व में स्थित सीमित अहंभाव को नित्य तत्त्व सर्वदा सत्ता देकर उसके स्वभावानुसार अस्वाभाविक अनित्य जीवन को प्रकाशित करता रहता है। यदि मानी हुई अहंता को स्वीकार न किया

जाये, तो सीमित अहंभाव निर्विकार नित्य तत्त्व से उसी प्रकार अभेद हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि से दग्ध बीज अपने स्वभाव को मिटाकर पृथ्वी इत्यादि तत्त्वों से अभेद हो जाता है। अतः हमको लेशमात्र भी नित्य जीवन से निराश न होना चाहिये। नित्य जीवन तो हमारी निज की सम्पत्ति है, क्योंकि वही हमारे काम आती है।

गहराई से देखिये, अस्वाभाविक जीवन की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है, जिसके बिना हम नहीं रह सकते, अर्थात् अनित्य जीवन की सभी अवस्थाओं के बिना रह सकते हैं। हम उसी का त्याग करते हैं, जो हमारी निज की वस्तु नहीं है।

जब हम अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं, तब निजानन्द से विमुख हो जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में फँस जाते है। इन सभी अवस्थाओं के बिना हम रह सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था के अभाव (परिवर्तन) को हम सर्वदा अनुभव करते है। यदि ऐसा न होता, तो न तो हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की गणना कर सकते और न अवस्थाओं के परिवर्तन को ही जान पाते। हम गणना उसी की कर सकते हैं, जो हमसे भिन्न हो अर्थात् हम जिसके साक्षी हों। अतः जाग्रत, स्वप्न, सुषुति आदि सभी अवस्थाओं के बिना हम सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं। यह अखंड नियम है कि भिन्नता से एकता होना सर्वदा असम्भव है, अतः हमको अपने लिये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति

आदि किसी भी अवस्था की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अवस्थाओं से तो केवल हमारी मानी हुई एकता है, परन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि जिन अवस्थाओं की सत्ता केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है, वे अवस्थाएँ हमारी सत्ता से हो सत्ता पाकर हमारे पर ही शासन करने लगती हैं। मानी हुई एकता अस्वीकृत होते ही मिट जाती है। अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही हम सुगमतापूर्वक नित्य जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाते हैं। अतः निजानन्द के लिये अपनी अनुभूति का आदर हमारे लिये परम अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों हम अपनी अनुभूति का आदर करते जायेंगे, त्यों-त्यों अनुभूति स्वयं बढ़ती जायगी। अनुभूति का आदर करने से मस्तिष्क और हृदय की एकता हो जावेगी जब बुद्धि और हृदय एक हो जाते हैं, तब सारा जीवन ही साधन हो जाता है, साधन जीवन का एक अंगमात्र नहीं रहता। जीवन साधन होने पर क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य-भेद नहीं होता और न प्रीतिभेद होता है, जैसे शरीर के सभी अंगों के साथ क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति समान ही होती है। शरीर के सभी अंग एक काल में एक ही संकल्प के अनुसार क्रिया करते हैं, अर्थात् दृढ़-संकल्प होने पर इन्द्रियादि कोई भी अंग संकल्प का विरोध नहीं करते, बल्कि सब मिलकर कर्ता के अनुरूप ही कार्य करते हैं। वैसे ही जब हमारा जीवन ही साधन हो जावेगा, तब हमारी सारी चेष्टाएँ

हमको हमारे परम प्रेमास्पद निज स्वरूप के लिये ही होंगी। यद्यपि कर्ता एक है और उसका लक्ष्य भी एक है, परन्तु जीवन साधन न होने के कारण हमारी सभी क्रियायें एक ही लक्ष्य में विलीन नहीं हो पातीं अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ रखती हैं, जिससे हम अनेक वासनाओं में बँधकर भटकते रहते हैं।

हम आरंभ में ही कह चुके हैं कि हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता किसी प्रकार नहीं हो सकती। परन्तु हमने अपने को शरीर से बांध लिया है और वह शरीर विश्व की वस्तु है, अतः उसे प्रसन्नतापूर्वक विश्व को दे देना चाहिये। हम जब विश्व की वस्तु को किसी काल्पनिक समाज, राष्ट्र एवं सम्प्रदाय को दे देते हैं, तब विश्व में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अशांति का मूल कारण यही है कि जो विश्व की वस्तु है, उसे हम विश्व को नहीं देते। हम स्वयं बन्धन में पड़कर विश्व के प्राणियों को भी बन्धन में डालते हैं। यदि हमारे में किसी प्रकार का दासत्व न होता, तो हम किसी को भी परतंत्र करने का प्रयत्न न करते। **जो स्वयं स्वतंत्र है, वह किसी को परतन्त्र नहीं करता।**

हम कोई भी बुराई दूसरों के साथ ऐसी नहीं कर सकते, जो प्रथम अपने साथ नहीं कर लेते। अर्थात् बुरा होकर बुराई करता है, क्योंकि क्रिया कर्ता का कार्य है। यद्यपि दोष युक्त प्रवृत्ति से भी कर्ता में दोष आ जाता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से तो यही ज्ञात होता है कि दोष-युक्त अहंता होने पर

दोष-युक्त प्रवृत्ति होती है, अर्थात् प्रवृत्ति से पूर्व अहंता बदल जाती है। अतः दोष-युक्त व्यक्ति ही विश्व में दोष-युक्त प्रवृत्ति उत्पन्न करते रहते हैं। यद्यपि हमको अहंभाव अत्यन्त प्रिय है, परन्तु दोष-युक्त प्रवृत्ति की आसक्ति के कारण हम परम प्रिय अहंभाव को सदोष बना देते हैं, अर्थात् हम अपने आप अपने पर अत्याचार करते हैं। हमको स्वयं अपनी दृष्टि से अपने को देखना चाहिए कि हम स्वयं दुखी होकर दूसरों को दुःख देते हैं। यह नियम है कि जो हम देते हैं, वह कई गुना अधिक होकर फिर प्रतिक्रिया रूप में हमारे पास आ जाता है। अतः ज्यों-ज्यों हम दूसरों को दुःख देते रहते हैं, त्यों त्यों स्वयं अधिक दुखी होते रहते हैं और ज्यों-ज्यों दुखी होते रहते हैं, त्यों-त्यों समाज को पुनः दुःख देते रहते हैं। जिस प्रकार बीज और वृक्ष का चक्र चलता ही रहता है, उसी प्रकार हमारे दुःख का चक्र भी चलता ही रहता है। हम प्रमादवश सुखासक्ति के कारण दूसरों को दुःख देते हैं। भला जिस सुख का जन्म किसी के दुःख से होगा, वह अन्त में हमको दुःख के अतिरिक्त और क्या दे सकता है? क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त उसमें ही विलीन हो जाती है। अतः किसी के दुःख से उत्पन्न होनेवाला सुख अन्त में दुःख में ही विलीन होगा। इसी कारण विचारशील उस सुख का उपभोग नहीं करते, जो किसी का दुःख हो, प्रत्युत उस दुःख

को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, जो किसी का सुख हो। हमारे दुखी होने से केवल हमीं को दुख नहीं होता, बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। यदि हम दुखी न रहेंगे, तो हमारे जीवन से किसी को भी दुःख न होगा। अतः हमको अपने दुःख का अन्त करना परम अनिवार्य हो जाता है। (विचार से उत्पन्न होनेवाला दुःख उन्नति का कारण होता है, क्योंकि वह पूर्ण दुःख होता है और सुख के लालच से उत्पन्न होनेवाला दुःख अवनति का कारण होता है, क्योंकि अधूरा दुःख होता है। पूर्ण दुःख यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ होता है। पूर्ण दुखी किसी दूसरे को दुःख नहीं देता। इन्द्रिय-लोलुप, सुखासक्त प्राणी दूसरों को दुःख देता है।)

जब हम अपने को अपने प्रेमपात्र को और शरीर विश्व को दे डालेंगे, बस दुःख का अन्त हो जावेगा। विश्व को शरीर की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर विश्व की वस्तु है। प्रेमपात्र हमारी प्रतीक्षा करते हैं, क्योंकि हम प्रेमपात्र के हैं। यदि वे हमारी प्रतीक्षा न करते, तो हमको आनन्दघन प्रेमपात्र की स्वाभाविक अभिलाषा न होती। यह नियम है कि हमको स्वतः उसीका स्मरण होता है, जो हमको प्यार करता है। अतः हमारे प्रेमपात्र हमको अपनाने के लिये हमारी प्रतीक्षा करते हैं। यद्यपि वे हमारे बिना भी सब प्रकार से पूर्ण हैं, किन्तु हमे अपनाने के लिये सदा हमारी प्रतीक्षा करते रहना उनकी अहैतुकी कृपा-मात्र है। भला क्या हमको यह शोभा देता है कि हम अपने

प्रेमपात्र की ओर नहीं देखते, जो हमारी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे हैं? हम इसीलिये दुखी हैं कि हमारे प्रेम-पात्र हमारे विना दुखी हैं। उनको हमारे विना और हमको उनके विना चैन मिल ही नहीं सकता। विश्व की वस्तु जव हम विश्व को दे डालेंगे, तो विश्व भी हमसे प्रसन्न हो जावेगा। दोनों के प्रसन्न होने से हम भी प्रसन्न रहेंगे अर्थात् सर्वदा के लिये निश्चिन्त, निर्भय तथा आनन्दित हो जावेंगे।

हमको जो कुछ करना चाहिये, वह हम कर सकते हैं। यदि न कर सकते होते, तो करने की रुचि न उत्पन्न होती। करने की रुचि स्वय करने की शक्ति प्रकाशित करती है। यह नियम है कि जव तक कारण रहता है, तव तक कार्य अवश्य रहता है। आवश्यकता कारण है और कर्तव्य-पालन कार्य है। आवश्यकता के होते हुए यदि हम यह कहते हैं कि हम कुछ नहीं कर सकते तो हम स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को धोखा देते हैं।

विश्व हमसे वही आशा करता है और ईश्वर वही आज्ञा देता है जो हम कर सकते हैं। जो हम नहीं कर सकते, उसके लिये न तो विश्व हमसे आशा करसकता है और न ईश्वर की ही आज्ञा हो सकती है। अतः हमको अपने में से यह विलकुल निकाल देना चाहिए कि हम कुछ नहीं कर सकते। हम जो कुछ कर सकते हैं, उससे ही हमारा अभीष्ट प्राप्त हो

सकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि 'जो कुछ हम कर सकते हैं, उसे न करना' इसके सिवाय अकर्तव्य और कुछ नहीं है, क्योंकि जब हम वह नहीं करते, जो करना चाहिये, तब उसके विपरीत करते हैं। कर्तव्य से विपरीत करना ही अकर्तव्य है। आवश्यकता होते हुए हम कुछ-न-कुछ अवश्य करते रहेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि आवश्यकता शेष न रहने पर करने की शक्ति नहीं रहती (क्योंकि क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है।) करना साधन है, साध्य नहीं; साध्य मिलने पर साधन शेष नहीं रहता, क्योंकि साधन साध्य से अभेद हो जाता है अथवा यों कहो कि साधन से असंगता हो जाती है। अतः हमको जो कुछ करना चाहिये, उसकी शक्ति तथा ज्ञान हमारे में विद्यमान है। **हमको अपने में से ही अपनी छिपी हुई शक्ति को विकसित करना है।** वह हम तब कर सकते हैं, जब अपनी योग्यतानुसार अपना अध्ययन कर लें। जब तक हम अपना अध्ययन नहीं करेंगे तब तक शास्त्रों का अध्ययन केवल हमारी बुद्धि का व्यायाम होगा और कुछ नहीं। जिस प्रकार रोग का यथार्थ निदान होने पर ही उचित औषधि निर्धारित की जा सकती है, उसी प्रकार शास्त्र, आचार्य आदि हमारे अनुकूल तब हो सकते हैं, जब हम अपना यथार्थ अध्ययन कर लें। अपना अध्ययन करने के लिये सबसे प्रथम हमको मानी हुई सत्ता को अस्वीकार करना होगा, अथवा माने हुए भाव के अनुरूप स्वधर्म-निष्ठा करनी होगी।

मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने से अनित्य जीवन निर्जीव हो जावेगा और माने हुए भाव के अनुरूप जीवन होने पर मानी हुई सत्ता से असंगता तथा विरक्ति आ जावेगी, अर्थात् मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जावेगी। (क्योंकि भाव का जीवन क्रिया के जीवन से ऊपर उठा देता है और भाव का जीवन पूर्ण होने पर ज्ञान का जीवन आरम्भ हो जाता है। क्रिया का जीवन ही पशु-जीवन है, भाव का जीवन ही मानव-जीवन है और ज्ञान का जीवन ही ऋषि-जीवन है।) जब हम मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, तब हमको माने हुए भाव के अनुरूप जीवन करना अनिवार्य हो जाता है, जिससे मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जाती है। मानी हुई सत्तायें सभी सीमित तथा अनित्य होती हैं। हमारी स्वाभाविक अभिलाषा नित्य जीवन की है। अतः नित्य जीवन के लिये अनित्य जीवन का अन्त करना परम आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार शेष नहीं रहता अथवा यों कहो कि प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार अनित्य जीवन का अन्त होते ही नित्य जीवन का अनुभव हो जाता है। नित्य जीवन से मानी हुई दूरी और अनित्य जीवन से मानी हुई एकता है। यदि अनित्य जीवन से मानी हुई एकता न होती, तो उससे अरुचि न होती और नित्य जीवन से जातीय एकता और मानी हुई दूरी यदि न

होती तो उससे नित्य निरन्तर रुचि न होती (क्योंकि नित्यता सर्वदा सभी को प्रिय है।) रुचि तथा अरुचि किसी न किसी प्रकार की एकता और किसी न किसी प्रकार की भिन्नता होने पर ही होती है।

गहराई से देखिये, अस्वाभाविक नित्य जीवन केवल दो प्रकार की—भोग और अमरत्व की, इच्छाओं का समूह है। अनित्य जीवन परिवर्तनशील विषयों की ओर ले जाता है, इसी-लिये उस जीवन का नाम अनित्य जीवन है। बेचारा अनित्य जीवन विषयों की ओर ले तो जाता है, परन्तु विषयों को प्राप्त नहीं करा पाता, क्योंकि विषयों में प्रवृत्त होने पर शक्तिहीनता तो होती है, प्राप्त कुछ नहीं होता। हमको शक्तिहीन देखकर विषय हमारा स्वयं त्याग कर देते हैं। हम आसक्ति वश विषयों के तिरस्कार-युक्त व्यवहार को सहन करते रहते हैं। हमारा तिरस्कार वही करता है, जो हमारा नहीं है। हमारे तिरस्कार को देख हमारा प्रेम-पात्र—नित्यजीवन—निवृत्ति द्वारा हमे अपना लेता है। उसके अपनाते ही हमको पुनः शक्ति मिल जाती है। हम विषयों के दासत्व के कारण बार-बार विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं और ठुकराये भी जाते हैं। हमने अपना मूल्य कम कर दिया है और अपने प्रेमपात्र—नित्य जीवन का निरादर किया है (क्योंकि उसके अपना लेने पर भी विषयों की ओर दौड़ते हैं) इसी महापाप के कारण अपने को स्वयं अपनी दृष्टि में निन्दनीय पाते हैं। यह बड़े दुःख की बात है।

नित्य जीवन अनित्य जीवन पर शासन नहीं करता, प्रत्युत प्रेम करता है। शासन वह करता है, जो सीमित होता है। नित्य जीवन असीम है। अथवा यों कहो कि शासन वह करता है कि जिसकी सत्ता किसी संगठन से उत्पन्न होती है। जो अपने आप अपनी महिमा में नित्य स्थित है, वह सर्वदा स्वतंत्र है, पूर्ण है और असीम है। वह किसी पर शासन नहीं करता, प्रेम करता है। यदि नित्य जीवन प्रेम न करता तो स्वयं निवृत्ति द्वारा अपनाता नहीं और यदि शासन करता तो हमको हमारी रुचि के अनुसार शक्ति देकर विषयों की ओर न जाने देता।

जब हम अपनी दृष्टि से प्रेम-पात्र के प्रेम को और विषयों की ओर से होनेवाले तिरस्कार को देख लेते हैं, तब हमको विषयों से अरुचि और प्रेम-पात्र को रुचि हो जाती है। बस उसी काल में प्रेमपात्र हमको अपने से अभेद कर लेते हैं।

विचार-दृष्टि से देखिये कि प्रत्येक प्रवृत्ति की निवृत्ति बिना ही प्रयत्न स्वतः होती है। अतः स्वयं आनेवाली निवृत्ति (जो प्रवृत्ति की अपेक्षा सबल एवं स्वतन्त्र है) अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती। शक्तिहीन होने पर अनित्य जीवन शक्ति-संचय के लिये कुछ कर ही नहीं सकता, अतः शक्ति भी अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि निवृत्ति काल में किसी प्रकार प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। यह हमको अनेक घटनाओं से अनुभव होता है कि निवृत्ति के बिना पुनः प्रवृत्ति

के लिये शक्ति नहीं आती। बेचारा अनित्य जीवन तो केवल शक्ति का दुरुपयोग ही करता है और कुछ नहीं कर पाता, क्योंकि बेचारे को विषय-सत्ता भी प्राप्त नहीं होती। विषयों की प्रवृत्ति विषयों से दूरी सिद्ध करती है, क्योंकि प्रवृत्ति एक प्रकार की क्रिया है। क्रिया लक्ष्य के अप्राप्ति-काल में ही होती है। बेचारा अनित्य जीवन न मालूम कब से विषयों की ओर दौड़ता है, परन्तु पकड़ नहीं पाता। जब हम पूछते हैं कि क्यों दौड़ते हो? तो हमको यही उत्तर मिलता है कि दौड़ने की आदत पड़ गई है। आदत, अभ्यास-जन्य आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अभ्यास का जन्म अस्वाभाविक माने हुए अहंभाव से होता है। अस्वाभाविक अहंभाव का अन्त कर देने पर अभ्यास-जन्य आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है। (क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता)। अभ्यास-जन्य आसक्ति अस्वाभाविक सीमित अहंभाव में अर्थात् अनित्य जीवन में सद्भाव के सिवाय और कुछ नहीं, क्योंकि यदि परिवर्तन में अपरिवर्तन भाव न हो तो आसक्ति कदापि नहीं हो सकती। सीमित अहंभाव से कामनाओं का जन्म होता है। जिस प्रकार बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार सीमित अहंभाव में अनंत कामनायें छिपी रहती हैं। कामनाओं की उत्पत्ति में दुःख, पूर्ति में सुख, (यहाँ पूर्ति का अर्थ प्राप्ति नहीं, बल्कि प्रवृत्ति है, क्योंकि जब कामना प्रवृत्ति का स्वरूप धारण करती है, तब कर्ता को सुख प्रतीत होता है। प्रतीति समीपत्व सिद्ध

करती है, एकता नहीं। अत्यन्त समीपता होने पर भी कुछ न कुछ दूरी शेष रहती है, अतः प्रवृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती) एवं कामनाओं की निवृत्ति में आनन्दघन नित्य जीवन का अनुभव होता है। कामनाओं की पूर्ति कर्म अर्थात् संगठन से होती है और कामनाओं की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान (तत्वज्ञान) से होती है, क्योंकि कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण अज्ञान (ज्ञान की कमी) है। पूर्ति और निवृत्ति में यही भेद है कि पूर्ति से कामनाओं की पुनः उत्पत्ति होती है और निवृत्ति से नहीं। यथार्थ ज्ञान त्याग और प्रेम से होता है दुखी प्राणी में त्याग और प्रेम विचार से और सुखी प्राणी में त्याग और प्रेम सेवा से होते हैं, क्योंकि जो स्वयं दुःखी है, वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु विचार कर सकता है। वेचारे सुखी प्राणी में सुखासक्ति के कारण विचार उदय नहीं होता, प्रत्युत वह सेवा कर सकता है।

कर्म देहाभिमान को जाग्रत करता है और सेवा स्वाभिमान को जाग्रत करती है। देहाभिमान अनित्य जीवन की ओर और स्वाभिमान नित्य जीवन की ओर ले जाता है। बड़े-से-बड़ा कर्म भी छोटी-से-छोटी सेवा के समान नहीं हो सकता, क्योंकि वेचारा कर्माभिमानी तो सर्वदा फल के लिये दीन रहता है। प्रत्येक कर्म सीमित अहंभाव की पुष्टि के लिये होता है,

क्योंकि कर्म के आरम्भ में कर्त्ता जिस अहंता को स्वीकार करता है कर्म, अन्त में उसी अहंता को सिद्ध करता है। मानी हुई सभी अहंतायें सीमित तथा परिवर्तनशील होती हैं। अतः इस दृष्टि से बेचारे कर्म का फल अनित्य ही होता है।

सेवा विश्व की पूर्ति के भाव से होती है। यह नियम है कि जो क्रिया दूसरों की पूर्ति के भाव से की जाती है उस क्रिया का राग कर्ता पर अंकित नहीं होता, जिस क्रिया का राग कर्ता पर अंकित नहीं होता, उसकी कामना नहीं होती, अतः सेवा, त्याग और प्रेम को उत्पन्न करने में समर्थ है। कर्माभिमानी में सर्वदा कामनायें निवास करती हैं। बेचारा कामना-युक्त प्राणी विषयों के दासत्व से छुटकारा नहीं पाता। सेवक में सर्वदा ऐश्वर्य तथा माधुर्य निवास करता है, क्योंकि ऐश्वर्य तथा माधुर्य के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। ऐश्वर्य तथा माधुर्य सर्व-शक्तिमान् सच्चिदानन्दघन भगवान् का स्वरूप है। ज्यों-ज्यों सेवा भाव सबल होता जाता है त्यों-त्यों विषयासक्ति अर्थात् विलासिता गलती जाती है और ज्यों-ज्यों विलासिता मिटती जाती है, त्यों-त्यों ऐश्वर्य, माधुर्य का प्राकट्य होता जाता है और किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होकर परम पवित्र आनन्दघन नित्य जीवन का अनुभव होता है।

जिस प्रकार प्रकाश अंधकार को खा लेता है, उसी प्रकार

विचार अविचार को खा लेता है। अविचार के मिटते ही अविचार का कार्य राग-द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाता है, क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं रहता।

जैसे भूख भोजन को खा लेती है, या जिस प्रकार आयु की पूर्णता आयु नहीं, वल्कि मृत्यु होती है, उसी प्रकार त्याग और प्रेम की पूर्णता यथार्थ ज्ञान होता है। यह नियम है कि नित्य जीवन से भिन्न उत्पन्न होनेवाली सभी सत्तायें उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक पूर्ण नहीं होतीं। पूर्ण होने पर उनसे अरुचि होकर स्वाभाविक अभिलाषा जाग्रत हो जाती है।

सुख और दुःख दोनों ही अनित्य जीवन की वस्तुएँ हैं। सुख प्राणी को परतन्त्रतारूप सुदृढ़ शृंखला में बाँध लेता है। गहराई से देखिये कि ऐसा कोई सुख नहीं होता कि जिसका जन्म किसी के दुःख से न हो। इस दृष्टि से सभी सुखी दुखियों के ऋणी हैं, क्योंकि सुख दुखियों की दी हुई वस्तु है। यदि हम सुखी प्राणी दुखियों की दी हुई वस्तु दुखियों को सम्मानपूर्वक भेंट न करेंगे, तो हम दुखियों के ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। भला कहीं ऋणी प्राणी को शक्ति तथा शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं।

जब हम विचार करते हैं, तो हमको यही ज्ञात होता है कि हमको सुख भी दुखियों की कृपा से मिला था और सुख के वन्धन से भी हम दुखियों की सेवा से छुटकारा पा सकते हैं।

इस दृष्टि से दुःखी हमारे लिये परम आदरणीय हैं। यदि कोई यह कहे कि सुख तो हमारे कर्म का फल है, तो भला बताओ तो सही कि आप जिस अंश में किसी दूसरे को दुःखी नहीं पाते, क्या उस अंश में आप सुख का अनुभव करते हैं? कदापि नहीं।

गहराई से देखिये, कर्म से उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक परिस्थिति तथा अवस्था दुःखमयी (अपूर्ण) है। उस दुःखमय अवस्था में भी आप अपने से अधिक दुखियों को देखकर सुख का रस ले लेते हैं। तो भला बताओ, वह सुख आपके कर्म का फल हुआ अथवा दुखियों का दिया हुआ प्रसाद।

हम परम प्रिय दुखियों की सत्ता से ही सुख रूप थकावट का रस ले लेते है। क्या हम अपनी दृष्टि में तब तक ईमानदार हो सकते हैं, जब तक परमप्रिय दुखियों को न अपना लें? कदापि नहीं। **सुख की सार्थकता यही है कि दुखियों के काम आ जावे।** क्या यही हमारी योग्यता है कि जिन सुखियों से हम दुखी होते हैं, उनका दासत्व स्वीकार करें और जिन दुखियो की कृपा से सुख तथा आनन्द दोनों ही पाते हैं, उनको तिरस्कृत कर अपने को अभिमान की अग्नि में जलायें? हमारी इस योग्यता को अनेक बार धिक्कार है।

हम अपनी निर्बलता छिपाने के लिये बेचारे दुःखी प्राणियों पर पशुबल से शासन करते हैं और अपने से अधिक शक्तिशालियों का दासत्व स्वीकार करते हैं। हमारा पशुबल न तो

हमारी निर्बलता को ही छिपा सकता है और न दुखियों को छिन्न-भिन्न कर सकता है; क्योंकि जिस निर्बलता को हम अपने से ही नहीं छिपा सकते, भला उसे विश्व से कैसे छिपा सकते हैं। जैसे पृथ्वी में छिपा हुआ बीज बृहत् रूप धारण कर लेता है, वैसे ही हममें छिपी हुई बुराई बृहत् रूप धारण कर लेती है। निर्बलता मिटाई तो जा सकती है, परन्तु छिपाई नहीं जा सकती। दुखियों के शरीर आदि वस्तुओं को छिन्न-भिन्न कर देने से उनका अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि सूक्ष्म तथा कारण शरीर शेष रहते हैं। प्राणी जिस भाव को लेकर स्थूल शरीर का त्याग करता है, उन्हीं भावनाओं के अनुरूप प्रकृति माता से अथवा यों कहो कि जगत्-कारण से शक्ति संचय कर, हमसे अधिक शक्तिशाली हो, हमारा विरोध करने के लिये हमारे सामने आ जाता है, अतः हम पशुबल से दुखियों को छिन्न-भिन्न भी नहीं कर सकते और न अपनी निर्बलता छिपा सकते हैं, न मिटा सकते है। हमारे इस पशुबल को बार बार धिक्कार है।

अब विचार यह करना है कि हमारी निर्बलतायें किस प्रकार मिट सकती हैं? जिस प्रकार बालक के रोने से ही चोर भाग जाता है, उसी प्रकार निर्बलता को निर्बलता जानने पर निर्बलता भाग जाती है, क्योंकि निर्बलता हममें उसी समय तक निवास करती है, जब तक हम उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाते। यदि निर्बलता हमारी निज की वस्तु होती; तो उसके

मिटाने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यदि उसके मिटाने का प्रश्न उत्पन्न हो रहा है, तो इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि निर्बलता से हमारी जातीय भिन्नता है, एकता नहीं है। एकता तो केवल प्रमादवश स्वीकार कर ली गई है। यह स्वीकृति कब से है और क्यों है, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु जिससे जातीय भिन्नता है, उसका अन्त अवश्य कर सकते हैं।

अस्वाभाविक सभी संयोग, जो केवल स्वीकृति से जीवित हैं, निरन्तर स्वाभाविक वियोग की अग्नि में जल रहे हैं। यदि हम संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लें, तो संयोग से उत्पन्न होनेवाला रस हम पर अपना अधिकार न कर सकेगा। उसके अधिकार न करने से भोगत्व-भाव नष्ट हो जावेगा, जिससे स्वाभाविक नित्य योग हो जावेगा। शक्ति-संचय करने के लिये योग कल्पतरु के समान है। यदि हमारी अभिलाषा सब प्रकार की निर्बलताओं का अन्त करने के लिये सद्भावपूर्वक उत्पन्न हो गई है, तो हमको अपने प्रेमपात्र निज स्वरूप से योग द्वारा वह शक्ति अवश्य मिल जावेगी, जिससे सभी निर्बलताओं का नितान्त अन्त हो जावेगा।

भोग से अरुचि होने पर योग, और भोक्ता का अन्त होने पर तत्त्वज्ञान अर्थात् नित्य जीवन का अनुभव होता है। योग स्थिति है, ज्ञान स्वरूप है। स्थिति का उत्थान होता है

और स्वरूप का उत्थान नहीं होता। निर्विकल्प स्थिति आदि सभी अवस्थायें हैं। हां, निर्विकल्प स्थिति जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सविकल्प स्थिति आदि सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ अवश्य है। परन्तु निर्विकल्प ज्ञान होने पर हम अपने में किसी प्रकार का अवस्थाभेद नहीं पाते अर्थात् सभी अवस्थाओं से अतीत हो जाते हैं। निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप है और निर्विकल्प स्थिति अवस्था है। स्वरूप का उत्थान नहीं होता, क्योंकि तीनों प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) से पूर्ण असंगता होने पर स्वरूप-ज्ञान होता है। निर्विकल्प स्थिति मे कारण शरीर से लेशमात्र सम्बन्ध रहता है, इसी कारण दीर्घ काल समाधिस्थ रहने पर भी उत्थान संभव है।

यह नियम है कि अवस्थाओं से सम्बन्ध बने रहने पर किसी प्रकार भी सीमित अहंभाव का अंत नहीं होता, जो निर्बलता, परतन्त्रता आदि सभी दोषों का मूल है। विचार-दृष्टि से देखने पर यह भली भांति ज्ञात होता है कि बड़ी-से बड़ी अवस्था भी किसी अवस्था की अपेक्षा ही श्रेष्ठ होती है। अवस्था-भेद मिटते ही हम नित्य जीवन एवं नित्य जाग्रति का अनुभव कर अमरत्व को प्राप्त होते हैं। अर्थात् हम अपने परम प्रेमास्पद को अपने से भिन्न नहीं पाते। वियोग का भय लेशमात्र भी नहीं रहता। विश्व केवल हमारी एक अवस्था के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः विश्व तथा विश्वनाथ दोनों को हम अपने में ही पाते हैं।

ओ३म् आनन्द ३

* शरणागति-तत्त्व *

शरण—

शरण सफलता की कुंजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रेमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान् आस्तिक को अस्ति, दुखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतंत्र को स्वातंत्र्य, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता, मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

आवश्यकता की पूर्ति—

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी के शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छायें अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इच्छाओं की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति होती है। इच्छाकर्ता बेचारा तो प्रवृत्ति द्वारा केवल शक्तिहीनता ही प्राप्त करता है, अतः

शरणागत शरण्य की शरण हो इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।*

शरणागति भाव है, कर्म नहीं—

शरणागत होते ही सब से प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। शरणागति भाव है, कर्म नहीं। भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान ही में फल देता है, कर्म भविष्य में। भावकर्ता स्वतन्त्रता पूर्वक भाव कर सकता है, कर्म संघटन† से होता है।

भेद-भाव, अभेद-भाव—

शरणागति दो प्रकार की होती है, भेद-भाव की तथा अभेद भाव की। भेद-भाव की शरणागति शरण्य (प्रेम पात्र) की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है। अभेद भाव की शरणागति शरण्य के यथार्थ ज्ञान से होती है। अभेद भाव का शरणागत शरणागत होने से पूर्व ही निर्विषय हो जाता है, केवल लेश-

---

*आवश्यकता उसी की होती है जिसकी सत्ता होती है और इच्छा का जन्म प्रमादवश आसक्ति से होता है। इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है, पूर्ति नहीं होती। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता में भेद नहीं जानते, परन्तु विचारशील जब अपने जीवन का अध्ययन करता है तब इच्छा और आवश्यकता में भेद स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि आवश्यकता और इच्छा में भेद न होता तो आस्तिकता उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि इच्छायुक्त प्राणी विषय-सत्ता से भिन्न कुछ नहीं जानता।

† संघटन अनेक प्रकार के होते हैं, क्योंकि अनेक निर्बलताओं का समूह ही वास्तव में संघटन है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, अपने से भिन्न की सहायता की खोज करना संघटन है।

मात्र अहंता शेष रहती है जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेद-भाव का शरणागत, शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् जो अनेक का था वह एक का होकर रहता है। शरणागत के हृदय में यह भाव, कि मैं उनका हूँ, निरन्तर सद्भाव-पूर्वक रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों ज्यों बढ़ती जाती जाती है, त्यों त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभेद होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेद भाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेद भाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अंतर केवल इतना रहता है कि भेद-भाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन करता है और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर नित्य एक रस का अनुभव* करता है' शरणापन्न की

*अनुभव का अर्थ उपभोग नहीं है। उपभोग तो संयोग से होता है। उपभोग काल मे कर्ता में भोक्ता भाव शेष रहता है, परन्तु मिलन का रस ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भोक्ता की सत्ता मिटती जाती है। इसी कारण उपभोग-कर्ता कभी निर्वासना को प्राप्त नहीं होता। परन्तु शरणागत निर्वासना को प्राप्त होता है। वासनायुक्त प्राणी शरणापन्न नहीं हो सकता।

सार्थकता तब समझनी चाहिये कि जब शरण्य शरणागत हो जाये, क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत, शरणागत-भाव न त्याग करने के लिये विवश हो जाता है। बस यही भेद-भाव की शरणागति है। जब भेद-भाव की शरणागति सिद्ध हो जाती है तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने से अभिन्न कर लेते हैं जिस प्रकार चोर बिना ही इच्छा के दण्ड पाता है।

वास्तविक जीवन और अभिनय—

शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भागों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव

अथवा यों कहो कि शरणागत में वासना शेष नहीं रहती। यदि कोई यह कहे कि शरण्य की वासना भी वासना है, तो विचार दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि शरणागत की शरण्य आवश्यकता है, वासना नहीं; क्योंकि वासना का जन्म भोगासक्ति एवं प्रमाद से होता है और आवश्यकता भोगासक्ति मिटने पर जाग्रत होती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय एवं अन्धकार-निवृत्ति युगपत है, उसी प्रकार भोगासक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की जाग्रति युगपत् है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शरण्य की आवश्यकता वासना नहीं है। यद्यपि आवश्यकता की सत्ता कुछ नहीं होती. परन्तु प्रेमास्पद को न जानने की दूरी के कारण प्रेमपात्र ही आवश्यकता के रूप में प्रतीत होता है, जिस प्रकार धन की आवश्यकता ही निर्धनता है। इसी कारण विरही शरणागत (भक्त) विरह के रस में मुग्ध रहता है।

में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्याय-पूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नतार्थ वही अभिनय करता है। यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता तथा क्रिया-भेद होने पर भी प्रीतिभेद नहीं होता, एवं अभिनयकर्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसे अभिनय में जीवन बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्ताभाव हो जाता है। बस उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर हो जाता है।

अनन्त शक्ति में विलीनता—

प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। यदि वह स्वतः आकर्षित न करती तो प्राणी के सीमित प्यार को निरन्तर छिन्न-भिन्न न करती रहती। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है अन्त में उसी में विलीन होती है। अतः अनन्त शक्ति से उद्भूत प्रेम की पवित्र धारा अनन्त शक्ति ही में विलीन होगी। उसे वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में बांधने का प्रयत्न व्यर्थ

चेष्टा है। शरणागत-भाव होने पर प्रेम की पवित्र धारा शरण्य ही में विलीन होती है।

अपने केन्द्र की शरणापन्नता—

प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य जीवन, नित्य रस एवं सब प्रकार से पूर्ण और स्वतन्त्र होने की है। अतः हमारा केन्द्र वही हो सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है। हम सबसे भारी भूल यही करते हैं कि अपने केन्द्र तक पहुँचने के पूर्व, मार्ग में अनेक इच्छाओं की पहाड़ियां स्थापित कर, स्वाभाविक प्रगति को रोक देते हैं; यद्यपि अनन्त शक्ति उन पहाड़ियों को उसी प्रकार प्यार पूर्वक छिन्न-भिन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करती है, जैसे मां बालक को सिखाने का प्रयत्न करती है।

हम उस अनन्त शक्ति का विरोध करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, यह परम भूल है। महामाता प्रकृति हमको निरन्तर यह पाठ पढ़ा रही है कि सीमित सत्ता अनन्तता के शरणापन्न होती है, जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर और बीज वृक्ष की ओर निरन्तर प्रगतिशील हैं। कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिये, प्रत्युत अपने परम स्वतंत्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील

होना चाहिये, जो शरणागत होने पर सुगमता पूर्वक हो सकता है। परन्तु यह अखंड नियम है कि कोई भी भाव तब तक सजीव नहीं होता जब तक कि वह विकल्प रहित न हो जावे। जिस प्रकार बोए हुए बीज को किसान बोकर विकल्प रहित हो जाता है अर्थात् बीज को बार बार निकाल कर देखता नहीं और न संदेह करता है, तब बीज पृथ्वी से घुल मिलकर अपने स्वाभावानुसार विकास पाता है, उसी प्रकार शरणागत अनन्त ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-सम्पन्न सत्ता से घुल मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है और सीमित स्वभाव को मिटाकर अभेद भी हो जाता है। किन्तु शरणागत भाव निर्विकल्प होना चाहिए, क्योंकि सद्भाव में विकल्प नहीं होता।

जो प्राणी उस अनन्त ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-सम्पन्न नित्य तत्व के शरणापन्न नहीं होते वे बिचारे अनेक वस्तुओं एवं परिस्थितियों के शरणापन्न रहते हैं, जैसे कामी कामिनी के, लोभी धन के, अविवेकी शरीर के, क्योंकि स्वीकृति मात्र से उत्पन्न होनेवाली अहंता अनेक भावों में विभक्त होती रहती है—जब जब जिस जिस भाव को स्वीकार करती है, तब तब उसी के शरणापन्न होती है। सत्य का शरणापन्न होनेवाला प्राणी अपने को स्वीकृति-जन्य अहंता से मुक्त कर लेता है।

सीमित अहंभाव का निःशेष—वास्तविक मानव-जीवन—

शरणागत की अहंता निर्जीव अर्थात् भुने हुए बीज की भांति केवल प्रतीति मात्र रहती है, क्योंकि उसमें सीमित भाव एवं

स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को ही अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराई से देखिये, यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है, जैसे देश के प्यार ने देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर, अत्याचार किया है, जो मानव जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। स्वीकृतिजन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। सीमित अहंभाव के निःशेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

शरणागति से शरणापन्नता, मानव जीवन से ऋषि जीवन—

शरणागत में मानव-जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है तब ऋषि जीवन का अनुभव कर अपने ही में अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

शरणागति अभ्यास नहीं, सद्भाव, सर्वोत्कृष्ट साधन—

शरणागति अभ्यास नहीं है प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति भाव

का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय साधन हो जाता है, अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिये ही मित्र, पुत्र के लिये ही पिता, पिता के लिये ही पुत्र, गुरु के लिये ही शिष्य, शिष्य के लिये ही गुरु, पति के लिये ही पत्नी, पत्नी के लिये ही पति, समाज के लिये ही व्यक्ति, देश के लिये ही देशीय होता है। जो जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिये वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता, अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिये सब कुछ होते हुए भी अपने लिये शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिये किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने आप प्रज्वलित हो जाती है। अतः शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। गहराई से देखिये, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है जिससे साधक विभक्त न हो, क्योंकि संघटन से उत्पन्न होनेवाला अभ्यास किसी भी प्रकार निरन्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एक रस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है, तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, एवं कभी शरण्य से अभेद होता है। वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही

है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे, अतः इस दृष्टि से शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

शरणागत शरण्य का शरण्य—

विचार दृष्टि से यह भली भांति सिद्ध होता है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। पतित से पतित अहंता भी शरणागत होते ही परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही अहंता में जो दोष युक्त संस्कार अंकित थे, मिट जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के बिना बीज का उपजना असम्भव है, उसी प्रकार दोषयुक्त अहंता के बिना दोषयुक्त संस्कारों का उपजना असम्भव है। अतः यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पतित से पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है, जिस भांति मिट्टी कुम्हार की शरणागत हो कर कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य से शरण्य के काम आता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेम-पात्र हो जाता है, अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन सा मार्ग है जो स्वतन्त्रता-पूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है?

शरणागत में अभिमान निःशेष, शरण्य से अपनत्व—

शरणागत में किसी भी प्रकारका अभिमान शेष नहीं रहता।

दीनता का अभिमान भी अभिमान है। शरणागत दीन नहीं होता, क्योंकि उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व होता है। अपनत्व और दासता में भेद है। दासता बन्धन का कारण है और अपनत्व स्वतन्त्रता का कारण है। अपनत्व होने से भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता मिटते ही स्वतन्त्रता अपने आप आ जाती है भिन्नता का भाव उत्पन्न होने पर ही प्राणी में किसी न किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। शरणापन्न होने पर अभिमान गल जाता है। अभिमान गलते ही भिन्नता एकता में विलीन हो जाती है। एकता होने पर भय शेष नहीं रहता। अतः शरणागत सब प्रकार से अभय हो जाता है।

भिन्नता का नितान्त अन्त—

भिन्नता द्वेष, और एकता प्रेम है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो एकता से उत्पन्न न हो, अर्थात् सभी दोषों का कारण भिन्नता, एवं सद्गुणों का कारण एकता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्ति भी सीमित अहंता के बिना नहीं हो सकती, परन्तु शरणापन्न होते ही प्रवृत्ति की आवश्यकता शेष नहीं रहती; अतः प्रवृत्ति निःशेष हो जाती है। प्रवृत्ति का अभाव होते ही सीमित अहंता उसी प्रकार गल जाती है जिस प्रकार सूर्य की उष्णता से बर्फ गल जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरणागत होने के अतिरिक्त कोई भी ऐसा उपाय नहीं जिससे भिन्नता का नितान्त अन्त हो जाये।

अधिकारी और अधिकार

शरणागत होने का वही अधिकारी है जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने लिये नित्य जीवन एवं नित्य रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जो प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति के साथ साथ अपना भी मूल्य घटाता* जाता है तथा अनुकूल परिस्थिति की आसक्ति में फँसता जाता है, एवं परिस्थिति से हार स्वीकार करता तथा लक्ष्य से निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत, यद्यपि शरण निर्बल का बल है, परन्तु जो प्राणी हार स्वीकार कर लेता है उसके लिये शरण असम्भव हो जाती है। निर्बल के बल का अर्थ केवल इतना ही है कि शरणागत बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं केवल शरणागति-भाव से ही सफलता प्राप्त करता है। भाव करने में प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब शरणागत होने पर अहंता परिवर्तित हो जाती है तब शरणागत का मूल्य संसार से बढ़ जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रसन्नता के लिये संघटन की ओर नहीं देखता। बस उसी काल शरणागत के जीवन में

---

* स्वीकृति मात्र को ही अपना आप समझ लेना तात्त्विक दृष्टि से अपना मूल्य घटना है। प्रेम-पात्र मे अपूर्णता का भास अथवा अपने स्वीकृत भाव मे विकल्प का होना आस्तिक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति का न होना अथवा किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की ओर आकृष्ट होना अथवा ऐसी प्रवृत्ति करना जो किसी की पूर्ति का साधन न हो, व्यावहारिक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है।

निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता, आदि सद्गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। शरणागत किसी भी गुण को निमंत्रण देकर बुलाता नहीं और न सीखने का ही प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित अहंता को, 'मैं उनका हूँ', इस भाव में विलीन करना परम अनिवार्य है, जो शरणागति-भाव से सुगमतापूर्वक अपने आप हो जाता है।

अब विचार केवल यह करना है कि शरणागत होने का अधिकार कब प्राप्त होता है ? जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का, जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव उत्पन्न होने के लिये विवश हो जाता है। जिस प्रकार बालक जब अपनी इच्छित वस्तु को अपने बल से नहीं पा सकता, तब विकल हो माँ की ओर देख रोने लगता है, बस उसी काल में माँ अपने ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य से बच्चे की इच्छित वस्तु प्रदान करती है, उसी प्रकार हमें यही करना है कि बालक की भाँति अपनी सारी प्राप्त शक्ति का पवित्रतापूर्वक ईमानदारी से उपयोग कर लक्ष्य से निराश न हों, प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-सम्पन्न नित्य सत्ता के शरणापन्न हो जायें। ऐसा करते ही प्राणी अपने उस स्वभावानुसार कि जिसे मिटाने में वह असमर्थ है, विधान के अनुरूप विकास अवश्य पा जायगा। यह अखंड सत्य है कि जब तक हम अपने आपको सीमित विकास से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते रहेंगे तब तक असीम शक्ति

उस विकास का यथार्थ ज्ञान कराने के लिये उसका ह्रास करती रहेगी, क्योंकि वह हमारी अपने से किसी भी प्रकार की भिन्नता सहन नहीं कर सकती। हमको इस असीम सत्ता का असीम प्यार देखना चाहिये जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। यह कैसा वैचित्र्य है कि जो विषय-सत्ता हमारा निरन्तर तिरस्कार कर रही है, हम प्रमाद-वश उसी की ओर दौड़ते रहते हैं और जो असीम सत्ता निरन्तर प्रेम-पूर्वक हमें अपनाने का प्रयत्न करती है, हम उससे विमुख रहते हैं। विचारशील प्राणी को इस प्रमाद-युक्त प्रगति का नितान्त अन्त कर देना चाहिये, जो शरणागत भाव से स्वतन्त्रता पूर्वक हो सकता है।

उपसंहार—

अपनी न्यूनता का अनुभव करना तथा उसे मिटाने का प्रयत्न करना मानवता है। जो अपनी न्यूनता का अनुभव नहीं करता वह मानव नहीं, और जो अनुभव कर उसे मिटाने का प्रयत्न नहीं करता वह भी मानव नहीं, एवं जिसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है, वह भी मानव नहीं है, अर्थात् न्यूनता होते हुए चैन से न रहना ही मानवता है। इसी कारण मानवता में उपार्जन के अतिरिक्त उपभोग के लिये कोई भी स्थान नहीं। उपार्जन ही मानव-जीवन का उपभोग है। उस मानव-जीवन की सार्थकता के लिये शरण्य के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है। क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है जो शरणागत होने से न मिट जावे, अर्थात् स्वभावानुसार विकास तथा नित्य जीवन शरण्य के शरणागत होते ही सुलभ हो जाता है, अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरण सफलता की कुंजी है।

परिस्थिति का सदुपयोग

परिवर्तनशील सीमित सौन्दर्य में सन्तुष्ट होने का स्वभाव काम उत्पन्न करता है। काम के उत्पन्न होते ही प्राणी अपने को किसी न किसी सीमित स्वीकृति में आबद्ध कर लेता है। नियमित स्वीकृति में आबद्ध होते ही स्वीकृति के अनुरूप अनेक संकल्प होने लगते हैं। संकल्प उत्पन्न होते ही इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति होने लगती है। यद्यपि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के अन्त में शक्ति-हीनता से भिन्न कुछ मिलता नहीं, परन्तु प्रवृत्ति की प्रतीति एवं प्रवृत्तिजन्य रस की अनुभूति की प्रतीति अवश्य होती है। बस, उसी प्रतीति का नाम परिस्थिति है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन का साधन है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी उन्नति के लिये सर्वदा स्वतन्त्र है। विधाता का विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है। प्रत्येक परिस्थिति किसी अन्य परिस्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ देखने में आती है। वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ स्वरूप से अपूर्ण हैं। यह नियम है कि अपूर्णता प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि परिस्थिति प्राणी का जीवन नहीं है, प्रत्युत वास्तविक नित्य जीवन का

साधनमात्र है। साधन में साध्य बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है तथा साधन का तिरस्कार करना, उसको अपने पतन का कारण मान लेना अथवा उससे हार स्वीकार करना, साधक की असावधानी और भूल ही है।

प्राकृतिक विधान प्रेम तथा न्याय का भंडार है; अतः वह दंड नहीं देता, परन्तु उसके सिखाने के अनेक ढंग हैं। साधारण प्राणी परिस्थिति-मात्र में जीवन-बुद्धि स्थापित कर प्राकृतिक विधान को दंड मान लेते हैं। प्रत्येक परिस्थिति का अर्थ सुख तथा दुःख है। प्रत्येक प्राणी सुख तथा दुःख के बन्धन में ही अपने को बाँध लेता है। किन्तु स्वाभाविक रुचि आनन्द की होती है। आनन्द तथा प्राणी (आनन्द के अभिलाषी) के बीच में सुख तथा दुःख का ही पर्दा है। सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर सुख-दुःख नहीं रहता। अतः इस दृष्टि से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि परिस्थिति (सुख-दुःख) न तो प्राणी का जीवन है, न पतन का कारण है। सुख-दुख का दुरुपयोग ही पतन का कारण है, जो प्राणी की स्वयं की बनाई हुई वस्तु है। जब हम अपने को अपने दोष का कारण नहीं मानते, तब हमको अपनी दृष्टि से अपने दोष नहीं दिखाई देते। ऐसी अवस्था में हम उन्नति से निराश होने लगते हैं। हम समझने लगते हैं कि हमको तो पतन के लिए ही उत्पन्न किया है, हमारी परिस्थिति प्रतिकूल है, हम उन्नति में असमर्थ हैं। प्यारे! गम्भीरता पूर्वक देखिये, प्रत्येक परिस्थिति विश्व का अंगमात्र है। कोई भी अङ्गी

अपने अङ्ग का पतन नहीं करता, प्रत्युत सुधार करता है, जिस प्रकर मां शिशु के हित के लिये शिशु के दूषित अङ्ग को चिरवा देती है। माँ के हृदय में शिशु के प्रति अगाध प्यार है, किन्तु शिशु वर्तमान पीड़ा देख मां का अन्याय देखने लगता है। बस, इसी प्रकार हम सुख का वियोग तथा दुःख का संयोग होने पर प्राकृतिक विधान को अन्यायपूर्ण तथा कठोर समझने लगते है। यह हमारी शिशु के समान बाल-बुद्धि का प्रभाव है, और कुछ नहीं।

प्राकृतिक विधान को न्यायपूर्ण स्वीकार करते ही प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने लगता है। ज्यों ज्यों सदुपयोग की भावना दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों प्रतिकूलता अनुकूलता में स्वतः परिवर्तित होती जाती है। जिस प्रकार कटु औषधि का सेवन करने पर ज्यों-ज्यों रोग निवृत्त होता जाता है त्यों-त्यों रोगी को औषधि के प्रति प्रियता उत्पन्न होती जाती है, अर्थात् कटु औषधि मधुर से भी अधिक मधुर प्रतीत होने लगती है, इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति के सदुपयोग करने पर प्रतिकूलता अनुकूलता से भी अधिक अनुकूल मालूम होने लगती है। इस दृष्टि से केवल परिस्थिति का दुरुपयोग करना ही प्रतिकूलता है। परिस्थिति वास्तव में प्रतिकूल नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि परिस्थिति जीवन है, अथवा परिस्थिति को ही सुरक्षित रखना है, अथवा उससे ऊपर नहीं उठना है। प्यारे! परिस्थिति जल-प्रवाह के समान बिना ही प्रयत्न निरन्तर परिवर्तित हो रही

है। हमें तो उसका सदुपयोग कर उससे अतीत अपने प्रेमपात्र की ओर जाना है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति हमारे मार्ग का स्थान है, अथवा खेलने का मैदान है। कोई भी विचारशील खेलने के मैदान में तथा मार्ग के स्थान में सर्वदा रहने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि खेलना मन में छिपी हुई आसक्ति का यथार्थ ज्ञान कराने का साधन है और मार्ग प्रेमपात्र तक पहुँचने का साधन है।

प्रत्येक परिस्थिति की उत्पत्ति कर्म से होती है और कर्म कर्ता के अनुरूप होता है, अर्थात् कर्ता स्वयं कर्म के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है; परन्तु साधारण दृष्टि से कर्ता और कर्म में भेद प्रतीत होता है। वास्तव में तो कर्ता का विकसित स्वरूप ही कर्म है। जिस प्रकार सूर्य का विकसित स्वरूप किरण तथा धूप आदि हैं, उसी प्रकार क्रिया, फल प्रवृत्ति-कर्ता के विकसित स्वरूप हैं। कर्म का प्रत्येक साधन कर्ता के पश्चात् उत्पन्न होता है, अर्थात् कर्म से कर्ता की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कर्म कर्ता से उत्पन्न हो, कर्ता की असावधानी के कारण कभी-कभी कर्ता पर ही शासन करने लगता है, परन्तु यह अवश्य है कि कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होने पर भी कर्ता कर्म से अतीत ही रहता है। कर्म कर्ता के बिना नहीं रह सकता, किन्तु कर्ता कर्म के बिना भी रह सकता है। जिस प्रकार नेत्र के बिना देखने की क्रिया नहीं हो सकती, देखने की क्रिया नेत्र के आश्रित रहती है,

किन्तु नेत्र स्वतन्त्र है, न देखने के लिये भी, क्योंकि देखने की क्रिया न होने पर भी नेत्र अपने को नेत्र के स्वरूप में जीवित रखता है, अर्थात् देखने न देखने में नेत्र अपने को स्वतन्त्र पाता है। इसी प्रकार कर्ता अपने को करने तथा न करने में स्वतन्त्र पाता है। मूल रूप से कर्ता सफेद वस्त्र के समान है, किन्तु जिस रंग में उसको रंग दिया जाता है उसी रंग को वह प्रकाशित करने लगता है। रंग के स्वीकार करने में कर्ता स्वतन्त्र है। विश्व कर्ता के सामने अनेक प्रकार की स्वीकृतियों के रंग भेंट करता है, किन्तु कर्ता अपनी रुचि तथा विश्वास के अधीन विश्व की दी हुई भेंट को स्वीकार करता है। साधारण दृष्टि से तो स्वीकृति ही कर्ता की सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु स्वीकृति के परिवर्तन करने पर स्वीकृति निर्जीव यन्त्र के समान और कर्ता स्वीकृति से अतीत प्रतीत होता है। अतः कर्त्ता जिस प्रकार की स्वीकृति स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है।

कर्ता शरीरभाव के सम्बन्ध से अपने में भोग-वासनाओं को पाता है, किन्तु फिर भी नित्य जीवन तथा नित्य रस की आवश्यकता विद्यमान रहती है। भोग-वासनायें नित्य जीवन तथा नित्य रस की आवश्यकता को ढक लेती हैं, मिटा नहीं पातीं। वियोग के भय से तथा कमी के अनुभव से एवं दुःख से जब कर्ता को भोग-प्रवृत्ति की अपूर्णता का बोध होता है, तब स्वाभाविक आवश्यकता जाग्रत होने लगती है। इस आवश्यकता की पूर्ति होने

के लिये सभी की स्थितियां असमर्थ है, किन्तु साधनमात्र अवश्य हैं। परिस्थिति बेचारी यन्त्रवत् है, उसका सदुपयोग करने पर प्रत्येक परिस्थिति सहायक मित्र है। विचारशील को न तो परिस्थिति की दासता स्वीकार करनी चाहिये, न परिस्थिति से शत्रुता। दासता नित्य जीवन की आवश्यकता नहीं जाग्रत होने देती और शत्रुता सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती, इस कारण विचारशील को केवल परिस्थिति का सदुपयोग ही करना है। यह अखंड सत्य है कि परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति स्वयं मिट जाती है।

परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिये कर्ता को कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखना परम अनिवार्य है। कार्य-कुशलता के लिये ईमानदारी, योग्यता एवं परिश्रमी होना आवश्यक है। ईमानदारी आने पर उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त होजाता है, जिनसे कर्ता तथा अन्य प्राणियों का अहित होता है अर्थात् अहितकारी चेष्टायें मिट जाती हैं। अहितकारी चेष्टाओं की उत्पत्ति तब होती है जब हम अपने ज्ञान के अनुरूप चेष्टा नहीं करते, अर्थात् अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं। भाव की पवित्रता का अर्थ केवल इतना ही है कि कर्त्ता में किसीके अहित का भाव न हो, प्रत्युत सर्व हितकारी भाव हो। लक्ष्य पर दृष्टि रखने का अर्थ केवल इतना ही है कि कर्ता को अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं भोगवासनाओं की निवृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिये।

प्रत्येक कर्त्ता में क्रियाशक्ति, राग तथा संस्कृति-जन्य स्वीकृति विद्यमान है। केवल क्रियाशक्ति यन्त्रके समान है। वह स्वरूप से उन्नति तथा अवनति का हेतु नहीं है। जब प्राणी क्रियाशक्ति का उपयोग राग की पूर्ति अर्थात् उपभोग के लिये करता है, तब उन्नति रुक जाती है और जब प्राणी राग के यथार्थ ज्ञान के लिये संस्कृति-जन्य स्वीकृति के अनुरूप क्रियाशक्ति का उपयोग करता है, तब प्राणी की स्वतः उन्नति होने लगती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस ही नहीं आता प्रत्युत भाव जन्य रस भी आता है, परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस आता है जो मानवता के विरुद्ध है। स्वीकृति का सद्भाव क्रिया जन्य रस को भाव-जन्य रस में विलीन कर देता है। भाव-जन्य रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव अर्थात् उपभोग की वासना (अर्थात् इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति) स्वतः गलती जाती है। ज्यों-ज्यों उपभोग की वासना गलती जाती है, त्यों-त्यों सेवा का भाव स्वतः उत्पन्न होता जाता है। सेवा भाव आ जाने पर संस्कारों की दासता मिट जाती है, अर्थात् सेवक की अहंता में से यह भाव समूल नष्ट हो जाता है कि संसार मेरे काम आ जावे, प्रत्युत यह भाव कि मैं संसार के काम आ जाऊँ, सतत जाग्रत रहता है। ज्यों-ज्यों संसार के काम न आने का दुःख बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्राकृतिक विधान (Natural Law) के अनुसार आवश्यक शक्ति का विकास सेवक के जीवन में स्वतः

हो जाता है, किन्तु सेवक उस शक्ति का स्वयं उपभोग नहीं करता, प्रत्युत उसको बांट देता है। इतना ही नहीं, वह अपने को बांटने के रस में भी आबद्ध नहीं होने देता। जब सेवक किसी प्रकार का वह रस जो किसी के संयोग (प्रवृत्ति) से उत्पन्न होता है, नहीं लेता तब सेवक मे नित्य रस स्वयं आ जाता है। नित्य रस आते ही सेवक में सेवक-भाव शेष नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश स्वतः फैलता है, उसी प्रकार सेवक-भाव न रहने पर भी सेवा स्वतः होती रहती है।

यह नियम है कि प्रत्येक संकल्प-जन्य प्रवृत्ति का अन्त कर्ता की स्वीकृति के अनुरूप होता है। यदि कर्ता की स्वीकृति पवित्र है, तो अपवित्र संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। अतः इस दृष्टि से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पवित्र प्रवृत्ति के लिये कर्ता को अपने में पवित्रता स्थापित करना परम अनिवार्य है, अर्थात् कर्ता पवित्र होकर ही पवित्र प्रवृत्ति कर सकता है। पवित्रता तथा अपवित्रता भाव हैं, स्वरूप नहीं, क्योंकि स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता। पवित्रता तथा अपवित्रता का परिवर्तन होता है। परन्तु पवित्रता औषधि और अपवित्रता रोग है। अतः पवित्रता अपवित्रता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। परिवर्तन उसी का होता है, जिसकी कर्ता ने अस्वाभाविक (Artificial) स्वीकृति स्वीकार करली है। इसका अर्थ यह समझ लें कि अपवित्रता के समान पवित्रता भी अस्वाभाविक (Artficial) है। पवित्रता में अस्वाभाविकता

केवल इतनी ही है कि पवित्रता की स्वीकृति पवित्रता आने से पूर्व पवित्रता स्थापित करने के लिये की जाती है। वास्तव में तो पवित्रता की स्वीकृति राग के आधार पर होती है, क्योंकि प्राणी को प्रथम अपवित्रता का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान से अपवित्रता का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान से पवित्रता की स्वीकृति होती है। इस दृष्टि से पवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान से हुई, किन्तु अपवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान-शून्य अन्ध-विश्वास एवं इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति के आधार पर होती है।

कर्ता स्वरूप से तो केवल समष्टि (Universal) क्रिया-शक्ति है, किन्तु उसमें व्यक्ति-भाव केवल स्वीकृति के आधार पर ही उत्पन्न होता है। उनमें से मूल स्वीकृतियाँ केवल तीन प्रकार की होती हैं—(१) विषय (२) जिज्ञासा तथा (३) भक्ति। विषयी होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता हुआ अप्राप्त उत्कृष्ट के लिये घोर प्रयत्न करता है। भक्त होने का वही अधिकारी है, जो सब प्रकार से भगवान् का होने में समर्थ है, तथा जिसके हृदय में भगवान् के प्रति विकल्प रहित विश्वास है। जिज्ञासु होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता नहीं, अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करता एवं दोष को दोष जान लेनेपर दोष के त्यागने में समर्थ है, इतना ही नहीं, प्रत्युत जिसको निर्दोषता के अतिरिक्त किसी से लेशमात्र भी प्रीति नहीं है।

भक्त तथा जिज्ञासु वर्ण-आश्रम में होते हुए भ वास्तव में

वर्ण-आश्रम-अतीत ही होते हैं, क्योंकि निर्दोष तत्त्व तथा भगवान् सभी के हैं। उनकी आवश्यकता सर्वकाल में सभी को होती है। जो आवश्यकता सर्वकाल में है, उसकी प्राप्ति का साधन भी सर्वकाल में होना चाहिये, अतः भक्त परिस्थिति के सदुपयोग करने पर अपने अभीष्ट को प्राप्त होते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु किसी भी काल में अपने लक्ष्य से विभक्त नहीं होते, किन्तु उनके तथा उनके लक्ष्य के बीच में परिस्थिति-रूप हल्का सा परदा रहता है। उस पर्दे से प्रीति जाग्रत होती है, क्योंकि प्रीति को जाग्रत करने के लिये किसी से किसी प्रकार का वियोग भी अनिवार्य है। अतः भक्त के लिये परिस्थिति प्रेम-पात्र की प्रीति जाग्रत करने का और जिज्ञासु के लिये जिज्ञासा प्रबल करने का साधन हो जाती है, क्योंकि परिस्थिति का दोष निर्दोषता की आवश्यकता जाग्रत करने में समर्थ है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से अपूर्ण तथा सदोष होती है, किन्तु जिज्ञासु के लिये वह मार्ग के कंटक के समान और भक्त के लिये प्रेम-पात्र के पत्र (सन्देश) के समान होती है, अन्तर केवल इतना होता है कि जिज्ञासु दोष-युक्त परिस्थिति को अनुभूति के आधार पर वीरता तथा गंभीरता पूर्वक त्यागकर निर्दोष तत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त परिस्थिति को प्रेम-पात्र का सन्देश समझ, प्रीति जाग्रत कर, प्रेमपात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। इसमे अन्तर इतना है कि जिज्ञासु को तो परिस्थिति का त्याग करना पड़ता है,

किन्तु भक्त का परिस्थिति त्याग करती है, क्योंकि भक्त में प्रेम-पात्र की प्रीति के अतिरिक्त कुछ भी करने की शक्ति नहीं रहती। जिज्ञासु पर्दा हटाकर अपने प्रेमपात्र (निर्दोष-तत्व) पर अपने को न्योछावर करता है। भक्त में स्वयं पर्दा हटाने की शक्ति नहीं होती, अतः भगवान विवश होकर स्वयं पर्दा हटाकर अपने को भक्त पर न्योछावर करते हैं।

सभी परिस्थितियों का वाह्य स्वरूप वस्तु-अवस्था के रूप में होता है, किन्तु परिस्थिति फल-स्वरूप से सुख तथा दुःख के रूप में सामने आती है। विषयी प्राणी परिस्थिति का उपभोग करता है, भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति को साधन जानते हैं, साध्य नहीं। अर्थात् विषयी का जो साध्य है, भक्त तथा जिज्ञासु का वह साधन है। यद्यपि साधक को साधन में अत्यन्त प्रियता होती है, परन्तु साध्य की अपेक्षा साधन साधक की दृष्टि में अधिक महत्ता नहीं रखता। इतना ही नहीं साध्य के आते ही साधक साधन सहित अपने को साध्य के प्रति समर्पण कर देता है। विषयी-प्राणी सुख-रूप परिस्थिति का उपभोग कर परिस्थिति का दास हो जाता है और दुःख-रूप परिस्थिति से भयभीत हो अधीर हो जाता है, परन्तु भक्त तथा जिज्ञासु सुख रूप परि-स्थिति का उपभोग नहीं करता, प्रत्युत सुख को दुखियों की वस्तु समझकर दुखियों को बांट देता है और दुःख-रूप परिस्थिति से त्याग का पाठ पढ़ अपने को दुःख के भय से बचा लेता है। इस कारण परिस्थिति भक्त तथा जिज्ञासु की दास हो जाती है।

अतः भक्त तथा जिज्ञासु पर परिस्थिति का शासन नहीं होता, और न भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति पर शासन करते हैं, प्रत्युत प्यार करते हैं।

प्रत्येक प्राणी को विधान के अनुरूप उन्नति की ओर जाना है। अतः अनुकूल तथा प्रतिकूल (सुखमय तथा दुःखमय) प्रत्येक परिस्थिति में उन्नति के लिये स्थान है, किन्तु परिस्थिति के द्वारा मिले हुए ज्ञान के अनुरूप जीवन न होने के कारण अवनति होती है। विषयी प्राणी भी तभी उन्नति करता है, जब वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर उससे उत्कृष्ट परिस्थिति की इच्छा करता है, अर्थात् विषयी प्राणी को भी वर्तमान परिस्थिति में त्याग को अपनाना ही पड़ता है, किन्तु उस त्याग का जन्म किसी प्रकार के राग से होता है; इस कारण विषयी का त्याग परिस्थिति के स्वरूप में ही पुनः सामने आ जाता है। जिस प्रकार ३/४ को यदि ७५/१०० कर दिया जावे, तो साधारण दृष्टि से तो अंकों में वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु मूल्य उतना ही रहता है, उसी प्रकार बेचारे विषयी की पीड़ा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट परिस्थिति आने पर बनी ही रहती है। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि सभी परिस्थितियां यंत्रवत् साधन तो हो सकती हैं, किन्तु प्राणी का जीवन नहीं हो सकतीं। जो प्राणी परिस्थिति को यंत्र न मानकर जीवन मान लेते हैं, वे बेचारे परिस्थिति का अभिमान धारण कर अपने हृदय को दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध करते रहते हैं; इसी

कारण परिस्थिति के सदुपयोग की अपेक्षा परिस्थिति के परिवर्तन का प्रयत्न करते रहते हैं। विधान के अनुरूप मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति-परिवर्तन करने और परिस्थिति से अतीत आस्तिकता प्राप्त कराने में भी समर्थ है, क्योंकि जो 'है' है वह सभी को सभी काल में मिल सकता है, उसके लिये किसी परिस्थिति विशेष की दासता की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होना है। परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होते ही साधक अपने को सभी परिस्थितियों में तथा सभी परिस्थितियों को अपने में एवं अपने को सभी परिस्थितियों से अतीत पाता है, जो प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः उससे कभी निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि आवश्यकता वही होती है, जिसकी पूर्ति परम अनिवार्य है। साधारण प्राणी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, संस्था, जाति, देश, समाज आदि स्वीकृतियों को जीवन मान लेते हैं, वास्तव में वे सब परिस्थितियां हैं। अपने-अपने स्थान पर सभी अनुकूल हैं; अतः प्रत्येक प्राणी को अपने अपने स्थान पर सुन्दर अभिनय का पात्र होना चाहिये, किन्तु उसमें जीवन-बुद्धि लेशमात्र भी न हो, क्योंकि कोई भी (Actor) अभिनयकर्ता अभिनय (Acting) को जीवन नहीं जानता। अभिनय तो केवल छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये साधनमात्र है, अर्थात् यों कहो कि राग-निवृत्ति की औषधि है। अभिनयकर्त्ता अभिनय-परिवर्तन की इच्छा (रुचि) नहीं करता,

प्रत्युत मिले हुए पार्ट को भली प्रकार कर अपने अभीष्ट को पाता है। अभिनय में महत्ता पार्ट की नहीं होती, किन्तु उसको सुन्दरता पूर्वक यथेष्ट करने की होती है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं।

परिस्थिति का सदुपयोग करनेवाला प्रतिकूल परिस्थिति के परिवर्तन के लिये विशेष प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत अपने ही परिवर्तन का प्रयत्न करता है। यह नियम है कि अपना परिवर्तन करने से कालान्तर में परिस्थिति भी स्वतः बदल जाती है और अपना परिवर्तन बिना किये परिस्थिति किसी भी प्रकार अनुकूल नहीं होती। अत. यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपने परिवर्तन का यथोचित प्रयत्न करना चाहिये।

जो प्राणी परिस्थिति के अतिरिक्त परिस्थिति से अतीत किसी अस्ति-तत्त्व की स्वीकृति नहीं करते, प्रत्युत यही भाव रखते हैं कि हमको तो सुन्दर सुन्दर अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है, उनके लिये भी परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान (Natural Law) प्रत्येक प्राणी की रुचि की पूर्ति मे समर्थ है; अतः वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही कर्ता को रुचि के अनुरूप उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है, यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी उत्पत्ति-विनाश-रहित आधार के बिना नहीं हो सकती। अतः परिस्थिति से अतीत अस्ति-तत्त्व अवश्य है।

प्राकृतिक विधान किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं रहने देता, प्रत्युत योग्यता के अनुसार त्याग का ही पाठ पढ़ाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वतः विकास पाकर मिट जाती है। इससे यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्येक परिस्थिति के त्याग से अथवा उसके दिये हुए ऐश्वर्य से विश्व की सेवा करके परिस्थिति से अतीत प्रेमपात्र की ओर जाना अनिवार्य है। यही परिस्थिति का वास्तविक सदुपयोग है। विचारशील का विचार, योगी का योग, प्रेमी का प्रेम, जिस परम तत्त्व में विलीन होता है, उसी में परिस्थिति का सदुपयोग करनेवाला भी विलीन होता है, क्योंकि सच्चाई मे कल्पना-भेद भले ही हो किन्तु सत्ता-भेद नहीं होता; अतः वर्तमान परिवर्तनशील परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सुगम साधन है।

वास्तविक राष्ट्र-निर्माण

(सुधार की आँधी से)

प्रश्न—क्या समाजवाद या पूँजी के विभाजन से भारत की समस्या हल हो जायगी ?

उत्तर—केवल पूँजी के विभाजन से परिस्थिति तो सम्हल जावेगी, परन्तु व्यक्तियों का निर्माण न होगा। व्यक्तियों के निर्माण के विना अनुकूल परिस्थिति भी हितकर नहीं होती। जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नहीं आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवाद की होगी।

प्रश्न—क्या धर्मयुक्त भी साम्यवाद है ? समाजवादी नेता तो कहते हैं कि धर्म के गीत गाने वालों ने मानव-समाज को अत्यन्त दुखी कर दिया है।

उत्तर—धर्म का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण वे लोग ऐसा सोचते हैं, धर्म का मूलमंत्र केवल दो बातें सिखाता है—किसी के ऋणी वन कर मत रहो और प्रत्येक कार्य विश्व के नाते अथवा भगवत् नाते करते रहो।

प्रश्न—किसी के ऋणी न रहने का अर्थ क्या है ?

उत्तर—तुम अपने जीवन का अध्ययन करो। जव तुम

बच्चे थे तब तुम्हारा किसी ने पालन-पोषण किया ही था। जब तुम बीमार होते हो, तब कोई न कोई सेवा करता ही है। जब तुम अबोध थे, तब तुमको किसी न किसी ने शिक्षित तो किया ही था।

प्रश्न—आपकी मूकभाषा मेरी समझ में नहीं आती है, कृपया स्पष्ट कर दीजिए।

उत्तर—देखो प्यारे, प्रत्येक व्यक्ति पालन करने वाले का और सेवा (nursing) तथा शिक्षा देने वाले का ऋणी है।

प्रश्न—तब फिर मुझे उस ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—तुम एक बाल मन्दिर खोलो और सपत्नीक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहकर देश के बच्चों की देख-भाल करो। माँ-बाप की गोद में बच्चों का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है, क्योंकि माँ-बाप से प्यार तो मिलता है, किन्तु न्याय नहीं, और नौकरों के द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नहीं। बालक का यथेष्ट विकास तभी सम्भव है, जब उसका पालन प्यार तथा न्याय-पूर्वक किया जावे।

जब तुम समाज के बालक-बालिकाओं का अपने शिशु की भाँति पालन करोगे तो तुम पालन करने वालों के ऋण से मुक्त हो जाओगे और तुम्हारी न्याय तथा प्यार पूर्वक की हुई सेवा से बालकों का भी विकास होगा। इतना ही नहीं, तुम्हारे मन से स्वार्थ-भाव भी मिट जावेगा, जिससे तुमको जितेन्द्रियता प्राप्त होगी। जितेन्द्रियता प्राप्त होने पर तुम अपनी योग्यतानुसार सत्य

की खोज कर सकोगे, जिससे तुम्हारा भी विकास होगा। केवल वस्तुओं के आधार पर जीवन व्यतीत करना मनुष्य के स्वरूप में पशुता है। वस्तुओं से अतीत जो तत्व है उसके प्राप्त करने पर ही तुम सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकोगे। जिस समाज में स्वतन्त्र व्यक्तियों का निर्माण नहीं होता, उस समाज का विकास सीमित ही होता है।

प्रश्न—क्या यह कार्य राष्ट्र का नहीं है?

उत्तर—यह कार्य कभी किसी राष्ट्र ने नहीं कर पाया, क्योंकि नौकरों के द्वारा सेवा नहीं हो सकती। जो बेचारा स्वयं उपभोग में ग्रसित है, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षा के आधार पर निर्भर हो, और जो अर्थ और काम की वासनाओं से मुक्त हो। न्यायदृष्टि से संग्रह की हुई सम्पत्ति पर केवल तीन प्रकार के प्राणियों का अधिकार है बालक, रोगी तथा विरक्त का। बालक और रोगी अर्थोपार्जन में असमर्थ हैं और सेवक को अर्थोपार्जन के लिए अवसर नहीं है। इतना ही नहीं उपार्जित अर्थ के आधार पर रहने वाला मनुष्य समाज से अभिन्न तथा निरभिमानी नहीं हो पाता है। अभिन्नता के बिना सच्चा समाजवादी और निरभिमानिता के बिना छिपी हुई नवीन शक्ति का विकास नहीं हो पाता। यह निर्विवाद सिद्ध है।

वर्तमान सुधारवादी तो किसी एक पार्टी के प्रतिनिधि बनकर द्वेष तथा स्वार्थ के आधार पर संगठन बना, पशुबल को उपा-

र्जित कर किसी के विनाश से किसी के विकास की बात कहते हैं। वे बेचारे प्राकृतिक विधान को नहीं जानते कि जिसका जन्म ही विनाश से होगा, भला उसका परिणाम विकास कैसे हो सकता है। अभी वे बेचारे ऊपर से तो स्वतन्त्र हो गये हैं किन्तु भीतर से पश्चिमी सभ्यता में आबद्ध हैं, उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। मस्तिष्क की दासता से अभी वे मुक्त नहीं हैं। वाह्य चमत्कारों से उनकी बुद्धि चकाचौंध में फँस गई है। पद का अभिमान विचार को उत्पन्न नहीं होने देता।

त्याग और प्रेम के आधार पर स्वार्थयुक्त जन-समाज संघटित होने में भय करता है, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार जो संघटन त्याग तथा सेवा के आधार पर नहीं है, वह अवश्य मिट जावेगा। यह परम सत्य है। देश के बच्चे तथा रोगी एवं संग्रह की हुई सम्पत्ति और सेवक, ये चारों एक हो जावें। इन चारों का संघटन ही सच्चा संघटन है, क्योंकि जब अर्थोपार्जन तथा उपभोग करने वाली पार्टी के ऊपर बच्चों के पालन तथा रोगियों की सेवा का बोझा न रहेगा, तब वे निश्चिन्त होकर अपने कार्य को कर सकेंगे। आज बच्चों तथा रोगियों की चिन्ता मानव को वीर तथा कार्यकुशल नहीं होने देती। जहाँ सरकारी अस्पताल हो वहीं एक सुश्रूषा-आश्रम और जहाँ विद्यालय हो, वहाँ एक बाल-मंदिर का होना अनिवार्य है। बाल-मंदिर तथा सुश्रूषा-आश्रम में ही संग्रह की हुई वह सम्पत्ति, जो केवल बैंकों का हिसाब बढ़ा रही है, आ जानी चाहिए, क्योंकि

सिक्के से वस्तुओं का, वस्तु से व्यक्तियों का, व्यक्तियों से विवेक का और विवेक से परिवर्तन से अतीत नित्य जीवन का महत्व अधिक है।

सिक्के की दासता ने वस्तुओं का उपार्जन नहीं होने दिया, जिसके कारण भोजन की सामग्री कम हो गई है। स्वास्थ्य वर्द्धक (Nourishment) भोजन ठीक न होने से अनेक प्रकार के रोगों की वृद्धि हो रही है। आज वेजीटेबुल मिल के लिए तो सम्पत्ति है, किन्तु डेयरी फार्म के लिए नहीं। पूँजीपतियों की इस भूल ने मानव के स्वास्थ्य को खा लिया है। वे ऊपर से तो अहिंसा के गीत गाते हैं, किन्तु पशुओं को न खाकर मनुष्यों को खा जाते हैं। यदि पूंजीपति धर्मशून्य राजनीतिक नेताओं के अत्याचारों से बचना चाहते हैं, तो उनको संग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छापूर्वक बाल-मंदिर और सुश्रूषा आश्रम के बनाने में लगा देना चाहिए, अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवकों के हाथ में दे देनी चाहिये, नहीं तो सुधार के गीत गाकर समाज साम्यवादी और समाज तंत्रवादी डाकुओं की भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान बदल कर पूंजीवाद मिटा देंगे, जैसे कांग्रेस गवर्नमेंट जमीन्दारी प्रथा को मिटा रही है। इतना ही नहीं, हिन्दू अपने को हिन्दू और मुसलमान अपने को मुसलमान न कह सकेगा और न वस्तु से व्यक्ति का मूल्य अधिक होगा, क्योंकि पार्टी का प्रतिनिधि बनकर जो कार्य किया जायगा उससे केवल पार्टी सुदृढ़ होगी। व्यक्ति का निर्माण नहीं होगा। व्यक्तियों के निर्माण के बिना सच्चाई ईमानदारी और निष्पक्षता

का प्रादुर्भाव नहीं होता और न स्वार्थभावना मिटती है। एक पार्टी सदैव दूसरी पार्टी को मिटाने के लिए तत्पर रहती है, जैसा कि अनेक स्वतन्त्र देशों में हो रहा है। यदि पाठकगण विचार करें तो उन्हें भलीभाँति ज्ञात होगा कि कांग्रेस जैसी अहिंसा तथा सत्य का अनुसरण करनेवाली पार्टी भी सफलता मिलने पर वैसी न रही, जैसी थी, अर्थात् पक्षपात में फंस गई। इसका मूल कारण यही है कि कांग्रेस व्यक्तियों का निर्माण नहीं कर सकी।

जिस देश के पूंजीपति तथा विद्वान् विषयासक्त हो जाते हैं, उस देश का राष्ट्र दूषित हो जाता है, क्योंकि राष्ट्र का जन्म विद्वानों तथा पूँजीपतियों के आधार पर ही निर्भर है, जिस प्रकार बुद्धि और प्राण के आधार पर ही शरीर की सारी व्यवस्था चलती है। शरीर में जो स्थान बुद्धि का है, समाज में वही स्थान विद्वानों का है। शरीर में जो स्थान प्राण का है, समाज में वही स्थान पूंजीपतियों का है। अतः पूंजीपतियों तथा विद्वानों का सुधार होने पर ही राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है।

बाल-मन्दिर तथा सुश्रूषा आश्रम के सेवा करनेवाले विद्वानों के द्वारा गवर्नमेंट का निर्वाचन होना चाहिए। जो उन विद्वानों में से वीतराग पुरुष हों अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए। मोहयुक्त प्राणी प्राकृतिक विधान को समझ नहीं पाता, उसके बिना जाने पक्षपात शून्य विधान बन नहीं सकता। राष्ट्र का कर्तव्य तो केवल

वीतराग पुरुषों के बनाये हुए विधान का पालन करना है। इस समय सच्चे सेवकों की बड़ी कमी है। उसकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब पूंजीपति और विद्वान् मिलकर देश के बच्चों का और रोगियों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें। विज्ञान और कलाओं की शिक्षा राष्ट्र दे सकता है, किन्तु भारतीय संस्कृति की शिक्षा धर्मात्मा सेवक के द्वारा ही हो सकती है, अतः पूंजीपति तथा विद्वानों को मिल जाना चाहिए, नहीं तो सुधार की आँधी में संग्रह किया हुआ धन भी लुट जावेगा। एक पार्टी दूसरी पार्टी को सदैव मिटाती रहेगी, जो अवनति का मूल है।

प्रश्न—क्या कोई विद्वान् आपको मिला है, जो बाल-मन्दिर के द्वारा सेवा करना पसन्द करता हो?

उत्तर—विद्वान् तो कई मिले हैं, किन्तु पूंजीपति अभी तक कोई नहीं मिला। इसी कारण यह पद्धति समाज में प्रचलित नहीं हुई। जब समाज को यह विश्वास हो जावेगा कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा तथा रोगियों की सेवा धर्मात्माओं ने अपने हाथ में ले ली, तब समाज का प्रत्येक व्यक्ति वीर बन जावेगा और संग्रह की भावना मिट जावेगी। यदि हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों तथा विद्वानों ने ऐसा नहीं किया, तो भारतीय संस्कृति और पूंजी दोनों ही नष्ट-भ्रष्ट हो जावेंगे, जो ह्रास का मूल है। राष्ट्र पर यही उत्तरदायित्व है कि सबल-निर्बल पर अत्याचार न करे, अर्थात् शिक्षा तथा चिकित्सा की सुव्यवस्था हो और बेकारी न रहे। बाल-मंदिर के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी और सुअपा-

आश्रम के बिना चिकित्सा अधूरी रहेगी, क्योंकि ये दोनों कार्य सेवक ही कर सकते हैं, नौकर नहीं। अतः यह कार्य धर्मप्रिय विद्वानों तथा पूंजीपतियों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। यह कार्य हाथ में आते ही साम्यवाद की आवश्यकता ही शेष न रहेगी और न पार्टीबन्दी की धूम मचेगी। संघठन भी अपने आप निष्पक्षता-पूर्वक त्याग तथा सेवा के आधार पर हो जायगा, जो विकास का मूल है।

प्रश्न—आपने तो सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा राष्ट्र के निर्वाचन की पद्धति बतलाई है, परन्तु आज तो कोई भी राष्ट्र तथा देश इस पद्धति को नहीं मानता सभी जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा निर्वाचन की बात कहते हैं।

उत्तर—बाह्य दृष्टि से तो ऐसा ही देखने में आता है किन्तु इने-गिने व्यक्ति प्रचार के द्वारा जनता को अपने पक्ष में लेकर जनता के बहाने अपने मन की बात करते हैं। इस चुनाव में सच्चाई नहीं होती। कहने के लिए जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वास्तव में जनता के नहीं होते। इस्लाम खतरे की बात कहकर मुसलमान जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया। हिन्दू-धर्म के गीत गाकर हिन्दू जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया। किसानों की बात कहकर किसानों को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया। की अपने मन की बात, नाम जनता का ले लिया। इतना ही नहीं, सबसे बड़ा दोष इस चुनाव में यह आता है कि वह प्रतिनिधि कहकर पक्षपाती हो जाता

है। सेवा करने वाला व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही बन जाता है। उसमें न तो पद का लालच होता है न पक्षपात, न स्वार्थ, अतः वह उसी व्यक्ति को चुनेगा, जो वास्तव में सच्चा सेवक और ईमानदार होगा। आज तो पार्टी का आधार लेकर अयोग्य व्यक्ति भी पद पा जाते हैं। जनता के प्रतिनिधि बनकर पार्टी-लीडर की हाँ में हाँ करते रहते हैं। देखने मे समाजवाद और वास्तव में आदेशकवाद होता है, जिसने स्वयं सेवा नहीं की उसे राष्ट्र निर्वाचन का अधिकार दे देना प्राकृतिक विधान के विरुद्ध है। यदि जनता स्वयं सच्चाई के जानने मे समर्थ होती तो राष्ट्र के निर्वाचन की आवश्यकता ही क्या थी? जनता तो अबोध बालक के समान होती है। सौ मूर्ख ६६ भले आदमियों को हरा सकते हैं, वह कभी सत्य की खोज करने वाली नहीं हो सकती। प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा करने वालों का चुना हुआ राष्ट्र हो और वीतराग पुरुष का बनाया हुआ विधान हो तभी समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।

संत-वाणी १

[१]

१—ऐसा कोई भी कार्य मत करो, जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते।

२—जिसकी आवश्यकता है, उसका अभाव स्वीकार न करो।

३—अपनी आवश्यकता से भिन्न किसी प्रकार का संग्रह न करो।

४—स्वीकृति को सत्ता मत समझो, क्योंकि वह अस्वीकृति से मिट जाती है।

५—सत्ता वही है, जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं हो सकता।

६—त्याग करनेवाले का त्याग अवश्य कर दो।

७—एकनिष्ठा सफलता की सर्वोत्कृष्ट कुंजी है।

[२]

साधारण प्राणी साधन को जीवन का अंग बनाते हैं और विचारशील पुरुष जीवन को साधन बनाते हैं। गहराई से देखिये, वर्तमान जीवन वास्तविक नित्य जीवन का एकमात्र साधन है, परन्तु जब प्राणी प्रमादवश, वर्तमान जीवन को ही, जीवन मान

लेता है, तब अनेक साधनों से जीवन को सुशोभित करने का उसी प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार विषयी अपने को शरीर समझकर अनेक अलंकारों से शरीर को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है। जैसे प्रत्येक अलंकार सर्वदा शरीर से भिन्न रहता है, वैसे ही प्रत्येक साधन जीवन से सदा भिन्न रहता है। जो वस्तु जीवन से भिन्न रहती है, वह जीवन का परिवर्तन नहीं कर पाती, बल्कि जीवन का एक शृंगारमात्र रहती है। शृंगार की आवश्यकता उसको होती है जिसको अपनी सुन्दरता पर विश्वास नहीं होता। अतः जीवन को साधन बनाना अनिवार्य है।

जब तक जीवन साधन नहीं हो पाता, तब तक वियुक्त होने वाली वस्तुओं की आवश्यकता होती है, क्योंकि स्वयं सुन्दर होने पर अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण अपनत्व का भाव सर्वोत्तम सुन्दरता है, जिसको देख प्रेमपात्र स्वयं मोहित हो जाते हैं।

[३]

जब प्रेमी वह कर डालता है, जो करना चाहिये, तब प्रेमपात्र क्या वह नहीं कर सकते जो, उनको करना चाहिये?

प्रेमी तथा प्रेमपात्र में केवल यही अन्तर है कि प्रेमी बेचारा कभी प्रमादवश कर्त्तव्य से कदाचित् वंचित भी हो जावे, परन्तु प्रेमपात्र तो सर्वदा वही करते हैं, जो करना चाहिये। जिन प्रेमियों को प्रेमपात्र के कर्त्तव्य का विशेष ध्यान रहता है, उन बेचारों ने वास्तव में प्रेमपात्र की महिमा को समझ नहीं पाया,

अथवा यों कहो कि उन प्रेमियो का अभी पूर्ण अपनत्व नहीं हुआ। अपनत्व हो जाने पर कहने सुनने की बात शेष नहीं रहती, अर्थात् उनके प्रभाव को जान लेने पर कुछ भी कहना शेष नहीं रहता।

अपनी दृष्टि से सच्चाई के साथ यह देखना चाहिये कि हम जो कुछ कर सकते हैं, उसे कर दिया या नहीं। यदि कर दिया, तो कुछ भी करना शेष नहीं है। यदि नहीं किया तो फिर कृपा के अधिकारी नहीं हैं।

बिना कृपा किये कृपासिन्धु किसी प्रकार नहीं रह सकते। हाँ, यह अवश्य है कि कृपासिन्धु की कृपा का अनुभव कृपापात्र को होता है। जो प्रेमी अपनी सारी शक्ति लगाकर क्रिया को भाव में विलीन कर शिशु की भाँति प्रेमपात्र की कृपा की प्रतीक्षा करता है, वह प्रेमपात्र का पवित्र प्रम अवश्य पाता है। यह निस्सन्देह सत्य है।

[४]

इन नेत्रों को अनन्त सौन्दर्य क्यों नहीं दिखाई देता? इस लिये कि ये सीमित सौन्दर्य को देखने से सन्तुष्ट हो जाते हैं।

इस मन को अनन्त रस क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित रससे सन्तुष्ट हो जाता है।

इस बुद्धि को अनन्त ज्ञान क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाती है।

इस अहंता को अनन्त जीवन क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि यह सीमित जीवन से सन्तुष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार बच्चे को माँ उतना ही खिलाती है, जितनी बच्चे को भूख होती है। हमारी माँ जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न है, हमको अनन्त रस का आस्वादन इसीलिये नहीं करा पाती कि हमने अपनी भूख कम करदी है। माँ करुणा करके निरन्तर धाराप्रवाह हमारे सीमित रसों को छिन्न-भिन्न करती रहती है, अर्थात् हमको अनन्त रस के लिये सीमित रसों के त्याग का पाठ पढ़ाती रहती है।

जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रेमी को सर्वदा प्रेमपात्र दिखायी देता है। अर्थ से तदाकार होने पर ज्ञाता की सत्ता भिन्न नहीं रहती, उसी प्रकार प्रेमपात्र से तदाकार होने पर प्रेमी की सत्ता भिन्न नहीं रहती, क्योंकि ज्ञाता और अर्थ की तथा प्रेमी और प्रेमपात्र की जातीय एकता है।

[५]

जब प्राणी गुणों का उपभोग करने लगता है तब गुणों का विकास रुक जाता है, क्योंकि वह उपभोग काल में उपार्जन नहीं कर सकता—यद्यपि अनित्य जीवन में उपभोग के लिये कोई भी स्थान नहीं है, क्योंकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता नित्य जीवन है—परन्तु बेचारा प्रमादवश उपार्जन करने की शक्तियों को उपभोग में लगा देता है। गुण तब तक मालूम होते हैं, जब तक गुण गुणी का जीवन नहीं होते, क्योंकि जिसकी एकता अहंता से हो जाती है, वह प्रतीत नहीं होता। जब जीवन में पूर्ण निर्दोषता आ जाती है, तब दोष की उत्पत्ति नहीं होती और गुण

प्रतीत नहीं होते। किसी बुराई का न करना कोई विशेषता नहीं है, विशेषता तो यह है कि बुराई उत्पन्न ही न हो। संकल्प के बल से बुराई रोक देना बुराई करने की अपेक्षा श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु निर्दोषता आने पर तो रोकने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि फिर बुराई उत्पन्न ही नहीं होती।

[६]

जो विभक्त नहीं है, वही भक्त है। भक्त तो निरन्तर सद्भाव-पूर्वक प्रेमपात्र का होकर ही रहता है। जब भक्त सब प्रकार से उनका हो जाता है, तब भक्त की सत्ता भक्ति बनकर अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य्य-सम्पन्न भगवान् का रसास्वादन करती है।

भक्ति से भिन्न भक्त की कुछ भी सत्ता शेष नहीं रहती। भक्ति के आते ही निर्वासना स्वाभाविक आ जाती है। निर्वासना होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अनेक अलौकिक रसों से युक्त जीवन हो जाता है। अपनी मानी हुई सीमित शक्तियों को उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिए, जिस प्रकार मिट्टी अपने आप को कुम्हार के समर्पण कर देती है, क्योंकि ऐसा करने पर ही प्राणी भक्त हो सकता है।

संत-वाणी २

जिसके परिवर्तन की रुचि है, वह हमारी आवश्यकता नहीं हो सकती। हमारी आवश्यकता वही हो सकती है, जिसकी पूर्ति वर्तमान में हो सके। भविष्य की आशा उस वस्तु के लिये होती है, जो किसी प्रकार के संगठन से मिलती है। हमको अपनी आवश्यकता के लिये संगठन की अपेक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि संगठन किसी न किसी परिस्थिति के स्वरूप में ही रहता है। परिस्थिति का सदुपयोग हमें परिस्थिति से असंग करने में समर्थ है, क्योंकि वह हमको विश्व के ऋण से मुक्त कर देता है। जब हम परिस्थितियों से असंग हो जाते हैं, तब हमारा प्रेमपात्र हमारे सामने अपने आप आ जाता है, क्योंकि परिस्थितियों के दासत्व ने हमको नित्य जीवन से विमुख कर दिया है।

आवश्यकता की अपूर्ति असह्य होती है और इच्छा की अपूर्ति सहन होती रहती है; आवश्यकता वर्तमान से सम्बन्ध रखती है, इच्छा भविष्य से; आवश्यकता की उत्पत्ति अहंता से होती है और इच्छा की उत्पत्ति आसक्ति से होती है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, इच्छा की निवृत्ति होती है। आवश्यकता

की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति होने पर नित्य जीवन का अनुभव होता है।

जिसकी प्रवृत्ति प्रिय हो और अन्तमें कुछ न मिले, वह इच्छा है; जिसका मिलन प्रिय हो और प्रवृत्ति कुछ न हो, वह आवश्यकता है।

प्रवृत्ति—किसीकी ओर दौड़ना (उसकी ओर दौड़ना जो न मिले)।

आवश्यकता—जो अपने-आप आ जाय।

प्रमाद—'नहीं' को 'नहीं' न मानना प्रमाद है; 'है' को 'है' न मानना भी प्रमाद है; साधन को साध्य मान लेना प्रमाद है; क्रियामात्र को जीवन मान लेना प्रमाद है; अनुभूति का निरादर प्रमाद है।

सर्वप्रिय प्रवृत्ति संसार का सौंदर्य है; सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है; निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है।

उपभोग कर्मसे, भगवान् सद्भावसे और ज्ञान त्यागसे मिलता है। दूसरों के काम आना कर्म, आत्मभाव सद्भाव और वासना-शून्यता त्याग है।

प्रवृत्ति की रुचि कर्म, प्रवृत्तिसे अरुचि वैराग्य, प्रवृत्तिके अर्थ का परिवर्तन हो जाना (अर्थात् प्रवृत्तिका पूजन बन जाना) भक्ति, प्रवृत्तिका अभाव तत्त्वज्ञान और अभावका अभाव विज्ञान है।

जो किसी का नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसके भगवान् अपने आप हो जाते हैं, क्योंकि वे अनाथके नाथ हैं। जो किसी का नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसे किसीका चिन्तन नहीं होता। जिसे किसी का चिन्तन नहीं होता, उसकी सारी शक्ति भगवान्में विलीन हो जाती है। भगवान्में विलीन हुई शक्ति अनन्त एवं नित्य हो जाती है, क्योंकि यह उनका स्वरूप है।

जो करना पड़ता है, उसे संयम के साथ करो; जो करना है, उसको अहंता से करो; जो आवश्यक है, उसे भूलो मत।

क्या करना पड़ता है?—संयोग।

क्या करना है?—वियोग।

क्या आवश्यक है?—नित्य जीवन, अनन्त रस।

भक्त पर सुख-दुःख तथा चिन्ता आदि का शासन नहीं होता।

अपनत्व का बल सभी बलोंसे श्रेष्ठ बल है; वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है; अपने-आप आये हुए सुखको बाँट देना और अपने-आप आये हुए दुःख से त्याग की शिक्षा लेना परम पुरुषार्थ है

उसकी खोज करो, जिसके बिना तुम किसी प्रकार रह नहीं सकते।

निश्चिन्तता, निर्भयता परम बल है।

—·०·—

संत-वाणी ३

प्रश्न—भगवान् के होकर रहने का क्या अर्थ है ?

उत्तर—गहराई से देखिये, प्रत्येक प्राणी किसी न किसी का होकर ही रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कोई विभक्त (जो भक्त नहीं है) होकर अनेक का रहता है और कोई भक्त होकर एक का ही। जिसको भगवान् का होकर रहना है, उसके लिये भक्त होना अनिवार्य है । यह नियम है कि जो जिसका भक्त हो जाता है उसको उसके विना कल नहीं पड़ती। उसमें स्वाभाविक व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। व्याकुलता वह अग्नि है, जो अनेकों प्रकार के दोषों को भस्मीभूत कर डालती है। पूर्ण निर्दोषता आ जाने पर व्याकुलता नित्य-जीवन, नित्य-रस और नित्य आनन्द में विलीन हो जाती है । फिर वियोग का भय एवं संयोग की आसक्ति शेष नहीं रहती। अवस्था-भेद मिटकर नित्य-जाग्रति अपने आप आ जाती है, एवं भक्त अपने प्रेम-पात्रको अपने से भिन्न नहीं पाता।

'मैं भगवान का हूँ' यह वाक्य कथन करने में जितना काल लगता है, उससे भी कम समय सद्भाव पूर्वक उनका होने में लगता है, क्योंकि प्राणी शब्द का तो तब उच्चारण

कर पाता है, जबभाव के अनुरूप संकल्प करता है और संकल्प के अनुरूप (परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी आदि) वाणियों के द्वारा चेष्टा करता है। होने के लिये तो संकल्प तथा उच्चारण आदि चेष्टा की आवश्यकता नहीं है, केवल सद्भाव पूर्वक भाव को स्वीकृति की आवश्यकता है। स्वीकृति, स्वीकृति-कर्ता अपने आप कर सकता है, अर्थात् स्वीकृति करने में प्राणी स्वतन्त्र है। जिसके करने में प्राणी स्वतंत्र है, उसका करना कठिन नहीं है। कठिन यही है कि साधारण प्राणियों के हृदय में अत्यन्त सुगमता का आदर नहीं है, इसी कारण सुगमता दुर्गम (कठिन) हो गई है।

जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज यथासमय अपने-आप उपजता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक की हुई स्वीकृति के अनुरूप कर्ता में करने की शक्ति अपने आप उत्पन्न होती है। बस, करना यही है कि अपनी की हुई स्वीकृति सुरक्षित बनी रहे। 'स्वीकृति' भाव है, अतः वर्तमान में ही हो सकती है। स्वीकृति अहंभाव से ही उत्पन्न होती है, अतः इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उसका विरोध नहीं कर पाते, क्योंकि ये सब तो अहंभाव के यन्त्र हैं। 'मैं भगवान् का हूँ', यह स्वीकृति होते ही सहज स्नेह उत्पन्न होकर प्रेमी को प्रेम-पात्र से अभेद तथा कर्ता की की हुई स्वीकृति को सार्थक करता है, क्योंकि स्वीकृति के अनुरूप जीवन होने पर स्वीकृति सिद्ध हो जाती है।

सुख-दुख आने-जानेवाली परिस्थितियाँ हैं। जो प्राणी

सुख में निरभिमानिता एवं उदारता को अपनाता है, वह अवश्य उन्नति कर लेता है, अर्थात् जीवन के जिस अंश में सुख हो, उसे दूसरों को बाँटकर हृदय को उदार बना लेना चाहिये और अभिमान को त्याग कर मनुष्य हो जाना जाहिये।

दुःख आने पर आत्म-विश्वास तथा त्याग को अपनाना चाहिये। आत्म-विश्वास का अर्थ है 'हार स्वीकार न करना' अर्थात् दुःख से न डरना। त्याग का अर्थ है अनुकूलता तथा प्रतिकूलतापर विश्वास न करना एवं सभी परिस्थितियों से असङ्ग हो जाना। जो प्राणी परिस्थितियों से असङ्ग हो जाता है उसकी प्रत्येक परिस्थिति लीलावत् प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने-आप होती है, अर्थात् परिस्थिति में जीवन भाव नहीं रहता, तब बेचारी परिस्थितियाँ स्वतः ही निर्जीव हो जाती हैं। परिस्थितियों के निर्जीव होते ही निर्वासना अपने आप आ जाती है, जो उन्नति का मूल है। निर्वासना होने पर स्वीकृति से उत्पन्न होनेवाली सत्ता मिट जाती है और आनन्दघन भगवान् से अभेदता प्राप्त होती है, जो वास्तव में 'जीवन' है।

संकल्प-पूर्ति का रस जीवन में सच्ची आस्तिकता नहीं आने देता; अतः विचारशील प्राणी को संकल्प-निवृत्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। संकल्प-पूर्ति में प्राणी सर्वदा परतन्त्र है, क्योंकि संकल्पपूर्ति कर्म से होती है। कर्म संघटन के बिना नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अशुभ संकल्प की अपेक्षा शुभ संकल्प अधिक आदरणीय है, किन्तु निःसंकल्पता के सामने शुभ

संत-वाणी ४

जो उन्हें नहीं भूलता, वे उसे नहीं भूलते। गहराई से देखिये, किसी का होना कुछ अर्थ नहीं रखता, जबतक कि उससे अपना सम्बन्ध न हो और किसी से भी सम्बन्ध उस समय तक नहीं होता, जबतक कि उसकी आवश्यकता न हो। स्वाभाविक आवश्यकता (Natural desire) वही है, जो सभी अस्वाभाविक इच्छाओं (Unnatural desires) को खा लेती है। उसी आवश्यकता को आपने अखण्ड आनन्दकी इच्छाके नामसे लिखा है। अखण्ड आनन्द इसी जीवन में मिल सकता है, परन्तु मिलता तब है, जब उसके बिना किसी भी प्रकार चैन न हो, अर्थात् सच्ची व्याकुलता ही आनन्द तक पहुँचाने के लिये समर्थ है, किसी और मास्टर की आवश्यकता नहीं है।

किसी भी चीज को केवल झूठा समझ लेना ही, उससे छुटकारा पा लेने के लिये काफी नहीं है, क्योंकि झूठी वस्तु में आसक्ति (Attachment) हो जाती है। देखिये, सिनेमा के देखनेवाले उसको बिल्कुल झूठा जानते हैं, परन्तु फिर भी उससे आसक्ति हो जाती है।

भगवान् की ओर मन लगाकर काम करना उतना अच्छा

नहीं है, जितना अच्छा काम को भगवान् का समझकर करना है; क्योंकि जिस समय जिस काम को करना हो, उस समय उसीमें अपनेको पूरा लगा देना चाहिये। ऐसा करने से काम के अन्त में आपका मन अपने आप काम को छोड़ देगा और उसके लिये व्याकुल हो उठेगा कि जिसका काम किया था। काम करते हुए भगवान् की ओर मन लगाने में न तो मन काम में लगेगा, न भगवान् में ही लगेगा, यानी दोनों ही बातें अधूरी रहेंगी। प्यारे, जो काम सामने हो और जिसके बिना किये नहीं रह सकते हो, यानी जिसका करना जरूरी हो, उसको बड़ी पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो। काम को अपनी ओर से बुलाओ मत। जो शक्ति काम के बुलाने में बेकार खर्च होती रहती है, उसको इकट्ठा होने दो। वही शक्ति आपको अखण्ड आनन्द से मिला देगी।

भगवान् क्या है? यह सवाल तभी हल हो सकता है, जब भगवान् मिल जावें। वैसे तो भगवान् के विषय में यह कहना काफी है कि उसके बिना हम अपूर्ण हैं। अपूर्ण को पूर्ण की अभिलाषा होती है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हमारी जो स्वाभाविक इच्छा है, वही भगवान् का स्वरूप है और हमारी जो अस्वाभाविक इच्छा है, वही संसार का स्वरूप है। अस्वाभाविक इच्छा होने पर हम संसार की ओर दौड़ते हैं, परन्तु पकड़ नहीं पाते। संसार का मीठापन यही है कि दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते हैं, तब आराम पाते हैं, अर्थात्

थकावट ही संसार का सुख है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी को भी शक्तिहीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। जो प्राणी यह अपने अनुभव से जान लेता है, वह फिर प्रवृत्ति की ओर नहीं दौड़ता, बल्कि अपने आप आनेवाली निवृत्ति को अपनाकर अपने प्रेमपात्र के लिये व्याकुल हो जाता है। जीवन की सभी कमजोरियाँ व्याकुलता की अग्नि में अपने-आप जल जाती हैं।

जब स्वाभाविक इच्छा—Natural desire अस्वाभाविक इच्छा—Unnatural desire को खा लेती है, तब व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये स्वभाविक इच्छा को सबल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। ज्यों ज्यों वह सबल होती जायेगी, त्यों त्यों अस्वभाविक इच्छा गलती जायगी। उसके बिल्कुल गल जाने पर स्वभाविक इच्छा भगवान् की कृपा से अपने आप पूरी हो जायगी। प्यारे, आनन्द आपकी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहा है। एक बार सुख (थकावट) के रस से विमुख होकर उसकी ओर देखिये। आपके देखते ही, वह आपको अवश्य अपना लेगा। आनन्द से निराश होना बहुत बड़ी भूल है। आनन्द मिल सकता है, मिल सकता है, मिल सकता है। संसार को कोई भी किसी भी प्रकार पकड़ नहीं सकता। उसकी ओर दौड़ने में थक जाने के सिवा कुछ नहीं मिलता।

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं और

जो विचार का उपयोग नहीं करते, वे घटना का चिन्तन करते हैं, अर्थ को भूल जाते हैं। सत्य की खोज करनेवाले प्राणी प्रतिकूलता आ जाने के भय से और अनुकूलता चले जाने के भय से दुखी होते हैं, अर्थात् विचारशील को अनुकूलता का सुख या प्रतिकूलता का दुःख—दोनों ही दुःख हो जाते हैं। सुख आने पर दुःख को भूल जाना, यही वास्तव में भूल जाना है। आनन्द आने पर दुःख मिटता है, सुख से तो केवल दवता है। आनन्द, आवश्यकता (Natural desire) की पूर्ति और इच्छाओं (Artificial desires) की निवृत्ति होने पर आता है और फिर नहीं जाता। सुख प्राणी को तव मालूम होता है, जव वह निरन्तर होनेवाले परिवर्तन को नहीं देखता तथा अपना मूल्य घटा लेता है, एवं जो उपस्थित है, उससे उत्कृष्ट परिस्थिति को देखना बंद कर देता है। वास्तव में तो परिवर्तन का रोग निरन्तर है। प्रत्येक प्रवृत्ति महान रोग है, क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में निर्वलता प्राप्त होती है, परन्तु जिन प्रवृत्तियों के करने में स्वतन्त्रता हो और जिसका अन्त निवृत्ति मे हो, वह प्रवृत्ति करने योग्य है। जिस प्रवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति ही शेप रहती है, वह त्याग करने योग्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति का साधनमात्र है। यदि प्रवृत्ति जीवन होती, तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक नहीं होता। प्रवृत्ति को केवल प्रवृत्ति की परतन्त्रता सिखाने के लिये प्रवृत्ति आवश्यक है। परतन्त्रता का दुःख स्वतन्त्रता की आवश्यकता उत्पन्न कर

देता है। स्वन्त्रता की आवश्यकता सबल होने पर उसके सभी साधन अपने आप उपस्थित हो जाते हैं; क्योंकि अनन्त शक्ति दीन नहीं है। जीवन की घटनाओं का पाठ स्वभाविक इच्छा को जाग्रत कर देता है। अपनी अनुभूति का आदर करो। परतन्त्रता को जीवन मत समझो। सुख का बन्धन दुःख से अधिक दुःख है। यदि हो सके तो सुख देकर दुःख खरीद लो, क्योंकि सुख वाँटने की वस्तु है, रखने की नहीं। जो प्राणी सुख को रखने का प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं और जो प्राणी सुख वाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है।

जो भुलाने पर भी नहीं भूलता, वह भगवान है। प्राणी प्रमादवश परिवर्तनशील प्राणियों का प्यार स्वीकार करने लगता है और भगवान् को भूल जाता है। भगवान् करुणा कर उन वस्तुओं को छिपा देता है और अपने प्यार के योग्य बना देता है। हम आसक्तिवश उनके प्यार को स्वीकार नहीं करते। उनको बिना प्यार किये कल नहीं पड़ती; इसीलिये वे हमारी आसक्ति-युक्त वस्तुओं को निरन्तर बदलते रहते हैं।

यदि हम थोड़े से थोड़े काल के लिये भी अपने को खाली कर लें, तो उनका नित्य प्यार एवं नित्य रस अपने आप आने लगे। हम अनेक प्रकारकी चिन्ताओं द्वारा उनके प्यार को आने से रोकते रहते हैं। बस, यही सब से बड़ी भूल है। प्राणी प्यार नहीं कर सकता। प्यार करना तो भगवान् ही जानते हैं, क्योंकि

प्यार वह कर सकता है, जो पूर्ण हो। प्राणी का तो यह अन्तिम प्रयत्न है कि वह अपने को उन्हें समर्पित कर दे।

स्वरूप का अर्थ आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व--Eternal personality है, अथवा यों कहो कि जिससे आवश्यकता की पूर्ति होकर उत्पन्न नहीं होती और न जिससे भिन्नता रहती है। यदि काम का अन्त होने पर मनको नहीं दे सकते, तो मनको अत्यन्त प्रिय वस्तु में लगा दो। मन लगा देने की अपेक्षा मन देना सुलभ एवं हितकर है, परन्तु मन के देने में लालच लगता है, तो मन को उसमें लगा दो, जो सब से प्रिय हो। यदि आप अपनी योग्यता से प्रिय वस्तु नहीं ढूँढ़ पाते, तो सभी वस्तुओं से हटा लो। मन अपने आप प्रिय वस्तु को ढूँढ़ लेगा। मन को बुरा मत समझो, बेइमान मत समझो, डाँटो मत, उससे प्रेमपूर्वक कह दो, 'प्यारे मन, अनेक को त्याग कर एक पर आ जाओ।' जब आप मन से प्रेमपूर्वक व्यवहार करने लगेंगे, तब मन प्रसन्न होकर आपको प्रसन्नता प्रदान करेगा। मन इसका भूखा है। बुद्धि उसको बहकाया करती है, आप बुद्धि से कह दीजिये कि 'वह मन को अनेक से एक पर लगा दे' किन्तु वह 'एक' मन का चुना हुआ हो। जब मन अधिक काल तक एक में लग जायगा, तब या तो उसका त्याग कर देगा या उसमें विलीन हो जायेगा। यदि आपको कोई स्थान न मिले, तो अपने में ही मन लगा दीजिये। अपने का अर्थ शरीर मत समझना। प्रत्येक वस्तु उस प्यारे को प्रकाशित करने के लिए शार्ट हैण्ड के चिह्न के

समान है। जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार जिस प्रिय वस्तु में मन लग जाता है, प्रेमी को प्रेमपात्र दिखायी देता है। चिह्न अर्थ नहीं होता, अर्थ चिह्न नहीं होता। मन बालक है। उसको प्रिय वस्तु देकर उसमें वह दिखाओ जो तुम्हारी आवश्यकता (स्वभाविक इच्छा) है। चिह्न में भटक मत जाओ। यदि मन को अपने में अथवा किसी प्रिय वस्तु में नहीं लगा पाते, तो मन को अपनी आवश्यकता में विलीन कर दो, अर्थात् काम के अन्त में अपने प्रेमपात्र का उसी प्रकार स्मरण करो, जिस प्रकार प्यास लगने पर पानी का प्यासा पानी पानी शब्द नहीं रटता, पानी के लिये व्याकुल होता है। पानी प्यासे के हृदय की पुकार होती है; अतः मन को अपने हृदय की पुकार में लगा दो। ज्यों ज्यों हृदय की पुकार बढ़ती जायगी, त्यों त्यों मन निर्दोष होता जायगा। असह्य पुकार होने पर प्रेमपात्र अपने आप मन को तथा आप को अपना लेंगे। उनका अनन्त सौन्दर्य एवं नित्य आनन्द तथा रस इसलिये नहीं आता कि हम सीमित (Limited) परिवर्तनशील सौन्दर्य में अपने आपको बाँध देते हैं। प्यार नदी के समान है। वह अपने-आप उसी प्रकार अपने प्रेमपात्र तक पहुँचने में समर्थ है, जिस प्रकार नदी समुद्र में स्वतन्त्रतापूर्वक पहुँच जाती है। परन्तु यदि नदी को बाँधकर अनेकों छोटी छोटी नहरों में बाँट दिया जाय, तो बेचारी छिन्न-भिन्न हो जाती है। बस, यही दशा बेचारे उन प्राणियों की है कि जिन्होंने अपने प्यार को सीमित कर, वस्तुओं में

बाँध दिया है। नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में बँध जाने से अनेक विकार उत्पन्न करता है, इसी प्रकार जब हम अपने प्यार को शरीर में बाँध देते हैं, तो वह प्यार अनेक विकार उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार हिमालयसे नदी का स्रोत धाराप्रवाह चलता ही रहता है, उसी प्रकार हम से प्यार का स्रोत निरन्तर चलता ही रहता है। हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि उस प्यार के स्रोत के सामने वस्तु, अवस्था आदिकी अनेक छोटी छोटी पहाड़ियाँ खड़ी कर देते हैं। हमारा प्रेमपात्र निरन्तर उन पहाड़ियों को हटाता रहता है। प्यार उनसे टकराता रहता है। प्यार का अधिकारी केवल प्रेमपात्र है। अतः हमको अपना प्यार सीमित नहीं करना चाहिये। प्रत्येक काम को पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो। काम के अन्त में व्याकुलता अपने आप आ जायगी। यदि व्याकुलता नहीं उत्पन्न होती, तो समझ लो अभी काम पूरी शक्ति लगाकर पवित्रतापूर्वक नहीं किया। पवित्रतापूर्वक किया हुआ प्रत्येक काम राम से मिला देता है अथवा राम के लिये व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। प्रत्येक काम के ठीक हो जाने का अर्थ है कि कर्ता काम से छूट जाय। कर्ता को वही काम बाँध लेता है कि जिस काम को कर्ता पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर नहीं करता। झुठाई से प्राणी तब छूट पाता है, जब सच्चाई की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, अतः सत्य की अभिलाषा असत्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर देगी। केवल असत्यको असत्य समझने मात्र से आसक्ति नहीं छूटती। सत्य की आवश्यकता होने पर असत्य अपने-आप छूट जाता है।

'पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर्म करने का अर्थ' गहराई से देखिये। जैसी आंख होती है वैसा ही देखती है, अर्थात् कर्त्ताके अनुरूप ही कर्म होता है। यदि कर्त्ता पवित्र है तो अपने आप पवित्रतापूर्वक प्रत्येक कर्म होगा, क्योंकि पवित्र होनेपर पवित्रता उत्पन्न होती है। साधारण प्राणी यह मानते हैं कि पवित्रता आनेपर कर्त्ता पवित्र होगा। वास्तवमें यह बात नहीं है। देखिये, सूर्य होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है। प्रकाश आने पर सूर्य उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् प्रकाश सूर्यका कार्य है, प्रकाश का कार्य सूर्य नहीं है। अतः पवित्र होनेपर ही पवित्रता-पूर्वक कर्म हो सकता है।

पवित्र होने से पूर्व अपवित्रता का ज्ञान अनिवार्य है, क्योंकि जबतक दोष का ज्ञान नहीं होता, तबतक गुण का ज्ञान नहीं हो सकता। सभी दोष उसी समय तक जीवित रहते हैं, जबतक दोषी दोष को देख नहीं पाता, अथवा जबतक दोषी दोष को अपने में मिलाकर देखता है। अनन्त कालका दोष उसी क्षण में मिट जाता है, जिस काल में दोषी अपने को दोष से असंग कर लेता है, अर्थात् दोष से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर बेचारा दोष वर्तमान में ही आमूल नष्ट हो जाता है।

जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जो उसकी ओर नहीं देखता, तब अनेक दोष अपने आप आ जाते हैं अर्थात् सभी अपवित्रताओं का मूल कारण यही है कि हम अपना मूल्य घटा लेते हैं तथा अपने में अभिमान की अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। जो

प्राणी परतन्त्रताकी बेड़ियों में जकड़ा है एवं अभिमानकी अग्निमें जलता है, वही अपवित्र है। इस अभागी अपवित्रता के आने पर अनेक दुःख निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सबसे प्रथम परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़ दो, अर्थात् अपने पर अपने से भिन्न का शासन मत होने दो (अपने ही बलसे अपने पर विजय प्राप्त कर लो)। ऐसी कोई प्रवृत्ति मत करो कि जो प्रवृत्ति अपनी ओर से आपका स्वागत न करे। जो प्राणी अपने पर अपने से भिन्न का शासन स्वीकार नहीं करता, उसको भोग में योग, प्रवृत्ति में निवृत्ति, बन्धन में मुक्ति और दुःख मे आनन्द दिखायी देता है। ऐसा प्राणी मित्र के लिये मित्र, पुत्र के लिये पिता, पत्नी के लिए पति, शत्रुके लिये शत्रु-सा दिखायी देता है। स्वय कुछ नहीं होता, क्योंकि वह अपने लिये अपने प्रेमपात्र (निज स्वरूप) से भिन्नकी ओर नहीं देखता, अथवा यों कहो कि ऐसा प्राणी प्रमाद से उत्पन्न होनेवाली सभी स्वीकृतियों का त्याग कर, अपनेको खालीकर, अपने को अपने प्रेमपात्र के रहने के योग्य बना लेता है, अर्थात् वह आनन्दघन भगवान् का निवासस्थान हो जाता है, जो सब प्रकार से पूर्ण है। अपने में से उन सभी स्वीकृतियों को निकाल दो, जो सीमित एवं दोषयुक्त हैं। अहंभाव आनन्दघन भगवान् का निवासस्थान है और शरीर विश्व की वस्तु है। जब प्राणी अपने को भगवान् को और शरीर विश्व को दे डालता है, तब उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता शेष नहीं रहती। अपवित्रता का नितान्त अन्त होनेपर सभी काम अपने-आप

पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर होने लगते हैं। प्यारे, अच्छाई उत्पन्न होती है सिखायी नहीं जाती।

आप धन्य हैं कि आपको संसार में वही दिखाई देता है, जो आप में है। दुखी को जब सब ओर दुःख दिखाई देता है, तब दुखी दुःख का अन्त करने के लिये समर्थ होता है। दुःख अग्नि के समान है और सुख लकड़ी है। दुःख की अग्नि इतनी प्रबल कर दो कि सुख का अन्त हो जाय। सुख का अन्त होते ही दुःख-रूपी अग्नि अपने आप शान्त हो जायगी और फिर कभी उत्पन्न न होगी। सुख का अन्त करने के लिये सुख क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। सुख क्या है? सुख सुखी को तब तक मालूम नहीं होता, (१) जब तक वह अपना मूल्य नहीं घटा लेता, (२) जब तक वह थक नहीं जाता, (३) जब तक वह परिवर्तन मे अपरिवर्तन नहीं देखता। ये तीनों कारण 'प्रमाद' अर्थात् भूल जाने से उत्पन्न होते हैं। भला, जो बेचारा भूल से उत्पन्न हुआ है, वह अन्त में भूल के अतिरिक्त और क्या दे सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। देखिये, इसी कारण सुखी प्राणी भूला रहता है। दुःख उस भूल के निकालने के लिये उत्पन्न होता है; अतः दुःख सुख की अपेक्षा कहीं आदरणीय है। आनन्दघन भगवान् तक पहुँचाने एवं पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये) दुःख ही समर्थ है। दुःखरूप अग्नि सभी निर्बलताओं के मिटाने में समर्थ है। अतः मन से कह दीजिये, 'प्यारे मन, दुःख से डरो नहीं, बल्कि उसे अपनाओ।'

जब तक हम अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, तब तक किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति बनी ही रहती है, अर्थात् संयोग की आवश्यकता ही प्रवृत्ति है।

प्रवृत्ति के विपरीत अर्थात् संयोग को वियोग में विलीन कर देना ही निवृत्ति है। प्रवृत्ति न रहने पर निवृत्ति अपने आप आ जाती है। निवृत्ति आते ही आस्तिकता उत्पन्न होती है, जो स्वन्त्रता का मूल है।

विचारशील की अनेक प्रवृत्तियां एक ही प्रवृत्ति में विलीन होती हैं। जब अनेक प्रवृत्तियॉ एक ही प्रवृत्तिमे विलीन होने लगती हैं, तब नकली इच्छायें स्वाभाविक इच्छा में बदल जाती है, जो उन्नति का मूल है। जब अनेक इच्छाऍ एक ही आवश्यकता में विलीन हो जाती हैं, तब आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति अपने आप आ जाती है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी कल्पतरु के नीचे निवास करता है। प्यारे, यह भली प्रकार समझलो कि अनन्त शक्ति कंगाल नहीं है। प्यारे, मानव-जीवनमें गुलामी के लिये कोई स्थान नहीं है और न अभिमानकी आवश्यकता है। अभिमान तथा गुलामी से रहित एकताके लिये जीवन मिला है।

जब हमारी सारी प्रवृत्तियों को निवृत्ति खा लेती है तब विश्व तथा विश्वनाथ दोनो से एकता अपने आप हो जाती है।

निवृत्ति संसाररूपी नदीके चढ़ावकी ओर ले जाती है,

अर्थात् संसार के कारण का ज्ञान कराकर संसार को ऊपर उठा देती है; क्योंकि निवृत्ति द्वारा संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रवृत्ति नदीके बहावकी ओर ले जाकर संसार-सागर में मिला देती है, अर्थात् प्रवृत्ति संसारमें ही चक्कर लगाती है। प्रथम स्वार्थयुक्त प्रवृत्तिको सर्वप्रिय प्रवृत्ति में बदल दो। ऐसा करनेसे संसारका वास्तविक रस आ जायगा। वेचारा संसार स्वयं नित्य रसकी खोजमें है, अर्थात् ऐसे प्राणी को नित्य रस (आत्मिक— Eternal रस)की खोज हो जायगी, जिसकी पूर्ति निवृत्ति द्वारा ही हो सकती है। सर्वप्रिय प्रवृत्ति जब प्रवृत्तिमें विलीन हो जाती है, तब परमप्रिय निवृत्ति आनन्दघन भगवान्से अभेद कर देती है।

गहराईसे देखिये, निवृत्तिके विना पुनः प्रवृत्तिकी भी शक्ति नहीं आती, क्योंकि निवृत्ति से ही प्रवृत्ति की शक्ति मिलती है। कोई भी प्राणी तबतक बोल नहीं सकता, जबतक बोलनेके पश्चात् चुप न हो जाय, क्योंकि चुप होनेसे ही दोबारा शब्द बनता है। कोई भी पथिक तबतक चल नहीं सकता, जबतक पाँव उठाकर रख न लेवे। हाँ, यह अवश्य है कि थोड़ी देरका चुप अधिक देर बोलने देता है और थोड़ीदेरका पैर रखना अधिक देर चलनेकी क्रिया करता है अर्थात् स्थिरतासे ही क्रिया की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो निवृत्तिसे न आ जाय और ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, जिससे शक्तियों का ह्रास न हो अर्थात् निवृत्तिसे शक्तिसंचय और

प्रवृत्ति से शक्ति का ह्रास होता है। निवृत्त प्राकृत नियम (Natura law) है, इसलिये अपने आप आती है, प्रवृत्ति-राग (Attachment) से उत्पन्न होती है; इसलिये प्रयत्न से आती है और अपने आप चली जाती है। नित्य जीवन के लिये निवृत्ति का अपना लेना परम अनिवार्य है।

संत-वाणी ५

प्रश्न--कृपया भगवान् के अखण्ड स्वरूप और एकरस का वर्णन कीजिये।

उत्तर--श्रीभगवान् के अखण्ड स्वरूप और एकरस का वर्णन भला खण्डवाली वाणी कैसे कर सकती है तथा खण्डवाले श्रवण ही उसे कैसे सुन सकते हैं? भगवान् के स्वरूप का वर्णन करने में भगवान् भी असमर्थ हो जायँगे, क्योंकि वर्णन करने के साधन भगवान् स्वयं अपने में से ही उत्पन्न करेंगे। यह अखण्ड सत्य है कि जिससे जो चीज उत्पन्न होगी, उसकी अपेक्षा वह सीमित होगी। उस सीमित साधन से असीम का वर्णन कैसे होगा? जिसके सामने अनेक खण्ड उपस्थित हैं, वही अखण्ड है, जो अखण्ड है, वही एकरस है। जिससे अपने रस उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, वही एकरस है। जिस रस के आने पर सभी रस नीरस हो जाते हैं, वही एकरस है। जिससे सभी रस सत्ता पाते हैं, वही एकरस है। जिसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं हो सकता, वही अखंड एकरस है। जिसके बिना सभी अपूर्ण हैं, वही अखंड है। खंड होकर

अर्थात् अखंड से भिन्न होकर कोई अखंड को नहीं जान सकता। खंड से मिलकर खंडको नहीं जान सकता। अखंड का ज्ञान अखंड होने पर और खंडका ज्ञान खंड से भिन्न होने पर सम्भव है और किसी प्रकार नहीं। जो प्राणी अखंड से भिन्न होकर अखंडको जाननेका प्रयत्न करता है, वह केवल बुद्धि का व्यायाम करता है। जिसको खंड का ज्ञान होता है, उसी को अखंड का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि अखंड का ज्ञान होते ही खंड अखंड में विलीन हो जाता है और एक अखंड शेष रहता है, अर्थात् सब कुछ विलीन होने पर जो शेष रहता है, वही अखंड है। अखंड 'है' को और खंड 'नहीं' को कहा जाता है। 'नहीं' का ज्ञान होते ही 'नहीं' निवृत्त हो जाता है और 'है' का ज्ञान होते ही 'है' से एकता हो जाती है। एकता होने पर वर्णन नहीं हो सकता। विचार-दृष्टि से देखिये, आंख ने आंख को कभी नहीं देखा। भक्त होकर भगवान् का वर्णन भक्ति के स्वरूप में प्रकट होता है, अर्थात् 'भक्ति' भगवान् के स्वरूप का वर्णन है, जो सिखाई नहीं जा सकती, जिसका कथन नहीं हो सकता। भक्त होने पर अपने आप जो भक्ति उत्पन्न होती है, वही भगवत्-स्वरूप का वर्णन है। श्रीभगवान् तो सर्वकाल में अखंड ही हैं, खंडके स्वरूप में प्राकट्य होने पर भी जो अखंड ही रहते हैं, वही भगवान् हैं। न मालूम कबतक आप लोग वाणी और कान को अपना बना-बनाकर जीवित रक्खेंगे? भगवान् का वर्णन करते ही वाणी आपकी नहीं रहेगी और श्रवण करते ही

श्रवण आपके नहीं रहेंगे। जब ये आपके नहीं रहेंगे, तब न श्रवण रहेंगे, न वाणी रहेगी। ये सब बेचारे इसलिये जीवित हैं कि इन्होंने अभी वह नहीं किया, जो इन्हें करना चाहिये। यह अखंड नियम है कि कार्य समाप्त होने पर कर्ता शेष नहीं रहता। अब आप इन बेचारों (श्रवण, वाणी आदि) पर कृपा कीजिये और इन्हें वह करने दीजिये कि जिससे ये अपना कार्य समाप्त करके लक्ष्य को प्राप्त हों। आप अपनी आसक्ति की पूर्ति के लिये कब तक इनको इनके काम से वञ्चित रक्खेंगे? जब प्राणी इन्द्रिय आदि यन्त्रों से रागयुक्त कार्य नहीं लेता, तब वे बेचारे अपने आप भगवान् के अखंड स्वरूप का वर्णन कर कृतकृत्य हो जाते हैं। वाणी और श्रवण सदा ही समीप रहते हैं, क्योंकि बोलने पर सुनना और सुनने पर बोलना होता ही रहता है। आप यदि भगवान् के अखंड स्वरूप का वर्णन करना तथा उसे सुनना चाहते हैं तो वाणी, श्रवण आदि को अपने खंड स्वरूप के वर्णन में न लगाइये। जब आप इनको अपने काम से खाली कर देंगे, तब सच मानिये, ये आपको श्री भगवान् के स्वरूप का वर्णन तथा श्रवण अपने आप करायेंगे, तब आप सुनियेगा। श्री भगवान् के स्वरूप का वर्णन भगवान् के आने पर ही हो सकता है, वियोग में नहीं। वियोग काल में तो भक्त के हृदय में भगवान् के प्रेम की प्रतीक्षा की अग्नि प्रज्वलित रहती है। उस विरहाग्नि से तपी हुई वाणी आदि सभी भगवान् की सत्ता से ही सत्ता पाकर भगवान् के अखंड

स्वरूप का वर्णन करेंगे, तब आप सुनियेगा। मन इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र उसी का वर्णन करते हैं, जिसका वर्णन आप सुनना पसंद करते हैं। आप श्री भगवान् से भिन्न और किसी का वर्णन सुनना पसंद न कीजिये, तब वे आपको स्वयं श्री भगवान् के ही वर्णन सुनावेंगे। साधारण प्राणी भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाओं के लेप चढ़ा चढ़ा कर स्वाभाविक प्रेमपात्र की विरहाग्नि को प्रज्वलित नहीं होने देते। वे भगवान् के बहाने से क्रियाजन्य रस की आसक्ति की पूर्ति करते रहते हैं। भगवान् के होकर, 'भगवान् का स्वरूप क्या है?' यह प्रश्न क्या अर्थ रखता है? गहराई से देखिये, प्यास ने कभी नहीं पूछा, 'पानी क्या है'? भूख ने किसी से नहीं पूछा, 'भोजन क्या है?' पानी पाकर प्यास तृप्त हो गई, भोजन पाकर भूख तृप्त हो गई। तृप्ति होने पर पानी और प्यास की भिन्नता तथा भूख और भोजन की भिन्नता शेष नहीं रहती। भगवान् का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न उसी प्राणी का हो सकता है कि जिसने सद्भावपूर्वक भगवान् के होकर रहने का संकल्प नहीं किया, अर्थात् जो भगवान् का होकर नहीं रहता, वही यह प्रश्न कर सकता है। इसका उत्तर यही है कि भगवान् का अखंड एकरस स्वरूप वही है कि जिसके बिना तुम को अपनी अपूर्णता का अनुभव है, क्योंकि न्यूनता की दशा में जो आवश्यकता होती है, वही भगवान् का अखंड स्वरूप है। जिस प्रकार विषयी की जो इच्छा होती है, वही विषय की सत्ता होती है, अर्थात् विषयी की इच्छा से भिन्न विषय और कुछ नहीं। उसी प्रकार

प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता से भिन्न श्रीभगवान् की सत्ता और कुछ नहीं। विषय-इच्छा का जन्म प्रमाद तथा राग से होता है। राग-निवृत्त होने पर स्वाभाविक आवश्यकता जाग्रत होती है। स्वाभाविक आवश्यकता की जाग्रति अग्नि के समान है, जो प्रमादरूपी लकड़ी को जलाकर श्रीभगवान से मिला देती है। राग निवृत्त होने पर इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र विषयों का गुणगान एवं श्रवण करना अपने आप बन्द कर देते हैं। विषयों का गुणगान बंद होते ही स्वाभाविक भगवद्-गुणानुवाद उत्पन्न होता है। जो अपने आप उत्पन्न होता है, उसमें करने का भाव नहीं आता। देखिये, भोजन अपने आप पचता है, किसी को नहीं भास होता कि मैं पचाता हूँ। अपने आप होने-वाली प्रवृत्ति श्री भगवान् की सत्ता से स्वयं होती रहती है। अतः श्री भगवान् स्वयं भक्त होकर आप अपना गुणानुवाद करते हैं। विभक्त होकर विषयी प्राणी श्री भगवान् के स्वरूप का गुणानुवाद किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भक्त होकर पतित से पतित प्राणी भी भगवद्-गुणानुवाद के योग्य हो जाता है, जिस प्रकार सभी प्रकार की लकड़ियाँ अग्नि की होकर तद्रूप हो जाती हैं। अग्नि किसी भी लकड़ी को अग्नि बनाने से इन्कार नहीं करती, उसी प्रकार श्री भगवान् किसी भी प्राणी को अपनाने के लिए इन्कार नहीं करते। भला यदि भगवान् का स्वरूप अखंड एकरस नहीं होता तो क्या वे सबको अपना सकते थे? कदापि नहीं, भक्त होते ही भक्त होने के पूर्व की

अहंता परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही प्रवृत्ति बदल जाती है, क्योंकि अहंता के विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'श्री भगवान का स्वरूप क्या है?' यह जानने के लिये एकमात्र यही उपाय है कि प्राणी सद्भावपूर्वक श्री भगवान् का हो जावे। अहंता परिवर्तित हुए विना जो कुछ चेष्टा होगी, वह देखने में कितनी ही पवित्र आस्तिकता युक्त क्यों न हो, उसका अर्थ निर्जीव मशीन की भाँति होगा, एवं अभिनय के स्वरूप में होगा, क्योंकि अहंता के विपरीत प्रवृत्ति प्राणी का जीवन नहीं हो सकती। अतः मनुष्य भक्त होकर ही श्री भगवान् को जान सकता है और एकमात्र भगवान् का होकर ही भक्त हो सकता है।

सन्त-वाणी ६

जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है तथा जिनसे अपनत्व होता है, एवं जिनमें सर्वोत्कृष्टता जान पड़ती है, उनसे स्वाभाविक प्यार उत्पन्न हो जाता है; परन्तु प्रमादवश कभी कभी दोषयुक्त वस्तुओं से भी अपनत्व हो जाने पर प्यार जैसा मोह हो जाता है, जो निराशाजनित दुःख उत्पन्न करता है। निराशाजनित दुःख उसे कहते हैं कि जिसकी पूर्ति की आशा न होने पर भी पूर्ति की रुचि रहती है। उस दुःख का विचारशीलों ने निरोध किया है। दुःख बड़ी ही अमूल्य वस्तु है, परन्तु आशाजनित होना चाहिये। आशाजनित दुःख उत्पन्न होने पर मोह से उत्पन्न होनेवाला दुःख मिट जाता है। प्रेम-पात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि प्रेमपात्र की आवश्यकता सभी इच्छाओं के मिटाने तथा सभी सम्बन्धों के विच्छेद करने एवं सभी परिस्थितियों से असंग करने में समर्थ है। यह भली प्रकार समझ लो कि 'है' 'नहीं' को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत प्रकाशित करता है, सत्ता देता है। परन्तु 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खा जाती है और 'है' से अभेद करती है। अतः

यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेमपात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है। यद्यपि सद्भाव-पूर्वक अपनत्व तथा सर्वोत्कृष्टता एवं आवश्यकता केवल एक मात्र 'है' की ही हो सकती है, परन्तु प्रमाद तथा आसक्तिवश साधारण प्राणी उसको 'नहीं' —शरीरादि वस्तुओं—में देखने लगते हैं, जिससे निराशाजनित दुःख उत्पन्न हो जाता है।

[२]

उन्नतिशील प्राणी वही हो सकता है, जिसमें अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देखने की योग्यता है। निर्बलता का ज्ञान होते ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि ज्यों ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों निर्बलता मिटाने की शक्ति आती जाती है। निर्बलता उसी प्राणी में निवास करती है, जिसमें निर्बलता होने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। अनन्त शक्ति बेचैनी को उसी प्रकार खा लेती है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को खा लेता है।

योग्यतानुसार परिश्रम करने पर बेचैनी का आरम्भ होता है, क्योंकि जबतक करने का अभिमान शेष रहता है, तबतक सच्ची व्याकुलता नहीं आती। करने का अभिमान तब मिटता है, जब प्राणी जो कर सकता है, उससे अपने को नहीं बचाता। साधारण प्राणी करने की शक्ति होते हुए भी अपने को निकम्मा बना लेते हैं और उस दोष को निरभिमानिता के नाम से प्रकाशित करते हैं। क्या आनन्दघन भगवान् हमसे वह आशा

करते हैं, जो हम कर नहीं सकते ? क्या हम जो कर सकते हैं, उसको करने पर हमारे प्रेमपात्र वह नहीं करेंगे, जो उनको करना चाहिये ?

सच तो यह है कि हम अपने आप को तथा प्रेमपात्र को धोखा देने का प्रयत्न करते हैं, बल होते हुए भी निर्बल बनते हैं, तथा निर्बल होते हुए भी बलवान् के समान सन्तुष्ट रहते हैं। कर्तव्यपरायण प्राणी के जीवन में हार स्वीकार के लिये कोई स्थान नहीं होता। जिस प्रकार मां को शिशु की सभी आवश्यकताओं का ज्ञान है एवं शिशु के बिना कहे ही मां वह करती है जो उसे करना चाहिये, उसी प्रकार आनन्दघन भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिये। परन्तु हम उनकी दी हुई शक्ति का सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटाने के लिये बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। आनन्दघन भगवान् निरन्तर शक्ति प्रदान करने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु हम उनको सहायता करने का अवसर नहीं देते।

छोटे से छोटे बच्चे को भी आवश्यकता होने पर बेचैनी होती है, परन्तु हम आवश्यकता होते हुए भी चैन से रहते हैं। हमें अपनी इस ईमानदारी पर विचार करना चाहिये कि हम कितना प्राकृतिक नियमके विरुद्ध करते हैं। गहराई से देखिये, आवश्यकता होने पर पशु पक्षी भी चैन से नहीं रहते, फिर न मालूम यह अभागा चैन हमारे जीवन में कहाँ से आ गया; अतः हमको

गम्भीरता पूर्वक अपने में से इस बनावटी चैन को निकाल देना चाहिये कि जिसने आवश्यकता होते हुए भी हमें सन्तुष्ट-सा बना रक्खा है।

[३]

अपने दुःख का कारण किसी और को न समझो। बुराई का उत्तर अच्छाई से दो। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उन्हें पवित्रता पूर्वक पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो। त्याग स्वतः उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। काम का अन्त होने पर राम अपने आप आ जाता है। जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपनाओ। घटनाओं को भूल जाओ, दुःख भूल जाओ। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने को सभी परिस्थितियों से असंग करलो। परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है, क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से संबंध-विच्छेद होता है। त्याग का अभिमान राग का मूल है, इसे विचारशील जानते हैं।

प्यारे, दुःख से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। यह भली प्रकार से समझ लो कि जो प्राणी सद्भावपूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अतः 'मैं भगवान् का हूँ' यह महामन्त्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें सुलझ जायेंगी। भगवान् का हो जाने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक

संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है । ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है ।

सभी विकास त्याग की कृपा पर निर्भर हैं ।

राम की कृपा राम से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है । राम असत्य को प्रकाशित करते हैं, राम की प्रतीक्षा असत्य को खा कर राम से अभेद करती है ।

सन्त-वाणी ७

एक तृषावंत प्राणी अनन्त जल में पड़ा है, किन्तु उसके कण्ठ में छिद्र है, मुँह से पानी पीता है, पेट तक पहुँचता नहीं, कण्ठ से निकल जाता है, वेचारा जल में रहते हुए भी प्यासा ही रहता है। यदि वह प्राणी अपना मुँह फेर ले तो कंठ का छिद्र ऊपर हो जायगा, उस दशा मे पिया हुआ पानी प्यास बुझा देगा। इसी प्रकार हम लोगो को आनन्द की प्यास अवश्य है, हम रहते भी आनन्द मे है, किन्तु फिर भी हम को आनन्द नहीं मिलता। यदि हम अपना मुँह फेर लें तो आनन्द की प्यास बुझ जाय।

हमको अपना दोष दिखायी तो देता है, किन्तु उस दोष के रहने से हम सम्पूर्ण रूप से दुखी नहीं होते। इसी कारण निर्दोषता की आवश्यकता पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं होती। जो आवश्यकता के स्वरूप में ही नहीं है, उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। एक ही गुण स्थानभेद से अनेक प्रकार का दिखायी

देता है। दोषी होकर कोई भी प्राणी चैन से नहीं रहता, निर्दोषता आने पर किसी प्रकार की बेचैनी शेष नहीं रहती। दोष का यथार्थ ज्ञान निर्दोषता की आवश्यकता जाग्रत करता है।

× × ×

निस्सन्देह जिनको आप भगवान् समझते हैं, वे केवल उपदेष्टामात्र ही हैं, संकट-मोचन नहीं। परन्तु यह भी सत्य है कि वर्तमान भक्तजनों को अनुकूल परिस्थिति के अतिरिक्त भगवान् के वास्तविक स्वरूप की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् वर्तमान भगवान् परिस्थिति अनुकूल कर नहीं पाते और वर्तमान भक्त परिस्थिति का त्याग कर नहीं पाते। हम लोग सेकेण्ड क्लास के मुसाफिरों के समान हो गये हैं। हृदय तथा मस्तिष्क की एकता फर्स्ट क्लास के तथा थर्ड क्लास के मुसाफिरों में होती है। जब हम लोगों के सामने कोई भयङ्कर दुःख आता है, तब किसी न किसी बनावटी सुख की ओट ले कर अपने को पूर्णरूप से दुःखी नहीं होने देते और सुख आने पर छिपे हुए घोर दुःख को सोचने लगते हैं, अर्थात् हृदय सुख का उपभोग करने लगता है और मस्तिष्क बनावटी दुःख का चिन्तन करता है। ऐसी अवस्था में न तो दुःख सुख को खा कर दुःख होता है और न सुख दुःखों को मिटाकर सुख होता है, अर्थात् जीवन में सच्चाई नहीं आती। जब हम अपनी दृष्टि से अपने को देखते हैं

तो यही मालूम होता है कि सच्चाई के साथ आस्तिकता उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि परिस्थितियों की दासता मिट नहीं पाती। क्या हम वास्तव में परिस्थितियों के रस को त्यागकर भगवन् के हो गये? यदि नहीं हो गये, तो वे हमें संकट-मोचन कैसे मालूम पड़ेंगे। हमें तो अनुकूल परिस्थिति चाहिये, भगवान् नहीं। प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से प्रतिकूल है; हम प्रतिकूलता को अनुकूलता मान लेते हैं। भगवान् प्रतिकूलता को प्रतिकूलता बनाने के लिये अनेक प्रतिकूलताओं के स्वरूप में अनेक लीलायें करते हैं; परन्तु हमारे मन में तो अपनी बनाई हुई लीला देखने की रुचि है, भगवान् की लीला तथा भगवान् को देखने की फ़ुरसत ही नहीं। जब हम उनको बुलाते ही नहीं, उनके होते ही नहीं, ऐसी दशा में वे नहीं आते तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? प्यारे, फ़र्स्टक्लास के मुसाफिर को केवल सुख होता है और थर्ड क्लास के मुसाफिर को केवल दुःख होता है, और सेकेंड क्लास के मुसाफिर को फर्स्ट क्लास के मुसाफिर को देख कर दुःख, और थर्ड क्लास के मुसाफिर को देख कर सुख होता है। सुख दुःख दोनों के कारण सेकंड क्लास के मुसाफिर के हृदय तथा मस्तिष्क में संघर्ष ही रहता है। यदि आस्तिकता की ओर जाना है, तो थर्ड क्लास के मुसाफिर की भाँति केवल दुःख को अपनाओ और यदि परिस्थितियों की ओर जाना है, तो फ़र्स्टक्लास के मुसाफिर की भाँति दुःख में भी सुख देखते रहो। ऐसा करने से हृदय तथा मस्तिष्क में एकता हो जायगी।

चिन्ता करने में आप लोगों को रस आता है। दुःख से कहीं अधिक आप लोग दुःख का ढोंग बनाते हैं। संसार का होकर रहने में आपको भय लगता है। आप जगत् तथा ईश्वर को अपनी इच्छा का दास देखना चाहते हैं। जगत् तथा ईश्वर का होकर रहने में अपना अपमान समझते हैं। सुख छिनते ही घबराने लगते हैं। जिस दुःख की कृपा से प्राणी दुःखहारी हरि को पाता है, उससे डरते हैं और जिस सुख की कृपा से प्राणी वासनाओं के जाल में फँस जाता है, उसकी दासता करते हैं। क्या प्राणी जगत् का होकर सुख का उपभोग तथा सुख की आशा कर सकता है? क्या सच्चा दुखी दुःखहारी हरि से भिन्न किसी और का हो सकता है? कदापि नहीं। चिन्ता की अग्नि उसी प्राणी के हृदय में जलती है, जो वास्तव में न तो सुखी होता है और न सच्चा दुखी। विचारशील आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करते हैं, चिन्ता नहीं। चिन्ता वही प्राणी करते हैं, जो परिस्थितियों के दास होते हैं। प्यारे, परिस्थितियों का दास किस प्रकार आस्तिक हो सकता है और आस्तिक किस प्रकार परिस्थितियों का दास हो सकता है?

सेवा का स्वरूप और महत्त्व

जिस प्रकार व्यापारी व्यापार तथा धन है उसी प्रकार सेवक, सेवा तथा सेव्य है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है। सेवा उसीमें उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रसन्नता के लिये वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की खोज नहीं करता। वस्तु अवस्था आदि की दासता सेवक होने नहीं देती। सेवक के अतिरिक्त संसार का प्यार और किसी को नहीं मिलता। कर्मवादी संसार को प्यार करता है, सेवक को संसार प्यार करता है। कर्मवादी जिस संसार के प्यार को किसी भी प्रकार नहीं पाता, सेवक उसको विना ही मूल्य पाता है, जिस प्रकार बगीचे के फल खरीदनेवाला व्यक्ति छाया तथा वायु को विना मूल्य ही पाता है। सेवक को संसार की ओर से होनेवाले प्यार के लिये लेशमात्र भी प्रयत्न करना नहीं पड़ता। वह स्वतः आता है और आने पर भी बेचारा सेवक को बाँध नहीं पाता। क्योंकि सेवक की वृत्ति निरन्तर सततरूप से जल-प्रवाह के समान, सेव्य की ओर विना ही प्रयत्न बहती रहती है। सेवक के स्वभाव में पवित्रता निवास करती

है, अर्थात् उसमें स्वार्थभाव का नितान्त अन्त हो जाता है। सेवक के व्यवहार में कार्य-कुशलता होती है, क्योंकि सेवक की प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है, अर्थात् उसमें क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता और न लक्ष्य-भेद होता है। सेवक के सामने प्रत्येक परिस्थिति अभिनय के स्वरूप में आती है और सेव्य को देकर चली जाती है। सेवक पर किसी भी परिस्थिति का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं होता। सेवक के अन्तःकरण से क्रियाजन्य रस की आसक्ति स्वतः निवृत्त हो जाती है। योगी जिस निवृत्ति को योग से, विचारशील जिस निवृत्ति को विचार से प्राप्त करता है, सेवक उस निवृत्ति को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त करता है, अर्थात् सेवक को संसार से संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि सेवक की दृष्टि में (प्राकृतिक विधान के अनुसार) अपने आप आई हुई प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। विषयी बेचारा जिस यश और कीर्ति के पीछे दौड़ता है, वह यश और कीर्ति सेवक के पीछे दौड़ती है, किन्तु उसको पकड़ नहीं पाती, अर्थात् विषयी जिसका दास है, वह सेवक की दासी है। जिस प्रकार स्वधर्मनिष्ठ राष्ट्र प्रजा से लिये हुए टैक्स को प्रजा के हित में ही बाँट देता है, उसी प्रकार सेवक संसार की ओर से आई हुई शरीर आदि सभी वस्तुओं को संसार के हित में ही बाँट देता है। जिस प्रकार व्यापारी का व्यापार धन में विलीन होता है, इसी प्रकार सेवक की सेवा सेव्य

(प्रेम-पात्र) मे विलीन होती है। जिस प्रकार अग्नि ज्यों ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, लकड़ी त्यों त्यों अग्नि बनती जाती है, उसी प्रकार ज्यों ज्यों सेवा प्रबल होती जाती है, त्यों त्यों सेवक की सत्ता सेव्य से अभेद होती जाती है। सेवक में स्वामी (प्रेम-पात्र) निवास करता है, क्योंकि स्वामी के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। सेवा तभी हो सकती है, जब ऐश्वर्य (बड़प्पन) तथा माधुर्य (प्यार) हो। ऐश्वर्य तथा माधुर्य स्वामी का स्वरूप है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सेवक में स्वामी निवास करता है। सेवक में सेवा करने से कभी थकावट नहीं आती, प्रत्युत ज्यों ज्यों सेवा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। सेवक के हृदय में सदैव व्याकुलता बनी रहती है और वह व्याकुलता की अग्नि सेवक को सेव्य से अभेद कर देती है। सेवक दो प्रकार के होते हैं—एक तो गङ्गा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते हैं और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक सेवा करते हैं। सेवा किये बिना संसार का राग स्वाभाविक निवृत्त नहीं होता। सेवा से भिन्न सभी साधन संसार को मृतकवत् जीवित रखते हैं। सेवा संसार को खा जाती है। मृतक नहीं बनाती अर्थात् सेवक की निष्ठा समाधि-अतीत होती है, अथवा यों कहिये कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही अवस्थायें निवृत्त हो जाती हैं। सभी साधक सेव्य को प्यार करते हैं। सेवक

को सेव्य प्यार करता है। अतः प्रेमपात्र का प्रेम पाने के लिये सेवा करना परम अनिवार्य है।

सेवा करने के लिये वाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वाह्य वस्तुओं के संगठन से तो पुण्यकर्म होता है। गहराई से देखिये, सेवा वही कर पाता है, जिस पर सेव्य (प्रेमपात्र) की कृपा होती है, अर्थात् भक्तों तथा संतों के अतिरिक्त और कोई भी प्राणी सेवा नहीं कर पाता। साधारण प्राणी वस्तुओं के संगठन से होने वाली प्रवृत्तियों को सेवा मानते हैं, किन्तु विचार दृष्टि से वह सेवा नहीं है। सेवा करने की शक्ति तो स्वामी के प्रसाद से ही आती है। जिस अंश में प्राणी अपनी सेवा कर पाता है, उसी अंश में प्राणी दूसरों की सेवा कर पाता है, अर्थात् जिस साधन से प्राणी अपना हित करता है उसी साधन से सेवा करता है। वाह्य वस्तुओं के संगठन से किसी भी प्राणी का हित नहीं हुआ, तो फिर उन वस्तुओं के संगठन से सेवा कैसे हो सकती है? वस्तुओं का संग्रह करना विश्व का ऋणी होना है, अतः वस्तुओं को विश्व के कार्य में लगा देना ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नहीं जब प्राणी विश्व के ऋण से मुक्त हो जाता है तब उसमें प्रेमपात्र से संबंध करने की शक्ति आ जाती है। प्रेमपात्रसे संबंध होते ही प्रेमपात्र के ऐश्वर्य तथा माधुर्य से स्वतः सेवा होने लगती है, अर्थात् प्रीति प्रीतम का स्वभाव है। सेवक तथा सेवा—प्रीति तथा प्रीतम एक ही वस्तु हैं सेवा। करने के लिये

सेवक होना अनिवार्य है। सेवक होने के लिये सद्भाव-पूर्वक प्रेमपात्र का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार युवावस्था आने पर ही शिशु को युवावस्था का यथार्थ ज्ञान होता है, उसी प्रकार सेवक होने पर ही सेवा का यथार्थ ज्ञान होता है। सेवा करना किसी को सिखाया नहीं जा सकता। एक एक सेवक के पीछे करोड़ों मनुष्य अनुसरण करने के लिये दौड़े, किन्तु वे करोड़ों मनुष्य एक भी सेवक उत्पन्न नहीं कर पाये। जिसका हृदय सार्वजनिक दुःख से दुखी होता है और वह जब सेव्य का हो जाता है, तब सेव्य की कृपा से सेवा करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। पुण्यकर्म से त्याग करने की शक्ति आती है, और त्याग से सेवक होने की शक्ति आती है। सेवक होनेपर सेवा स्वतः उत्पन्न होती है।

संसार तथा प्रेमपात्र दोनों का प्रेम पाने के लिये सेवा करना परम आवश्यक है, जो प्राणी संसार से विमुख होकर प्रेम-पात्र का बन जाता है, उसमें सेवा करने की शक्ति स्वयं आ जाती है। अतः सेवक होने के लिये प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। सेवक होना उन्नति का साधन है, परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है। जिस प्रकार नदी की प्रगति सदैव समुद्र की ओर ही रहती है, उसी प्रकार सेवक की प्रगति सदैव सेव्य की ओर रहती है। जिस प्रकार नदी के सामने रुकावट आने पर नदी की गति तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार सेवक के सामने प्रतिकूलता आने पर, सेवा की गति और भी तीव्र हो जाती

है, अर्थात् प्रतिकूलता सेवक का उत्थान करती है, पतन नहीं। सेवक के जीवन में ज्ञान के अनुरूप भाव तथा क्रिया होती है। अर्थात् सेवक की क्रिया तथा भाव ज्ञान में विलीन होते हैं। सेवा नित्य स्वतन्त्रता की ओर ले जाती है। सेवक संसार का चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत संसार सेवक का चिन्तन करता है। सेवक संगठन के पीछे नहीं दौड़ता, प्रत्युत संगठन सेवक के पीछे दौड़ता है। सेवक के जीवन में दीनता तथा अभिमान के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

संत-वाणी ६

निर्बलता महान् दुःख है, अतः प्रत्येक प्राणी में कोई न कोई निजी बल होना चाहिये। बल वही सार्थक है जिससे किसी का अहित न हो और प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त कर लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हो।

(१) अपने इष्ट पर विकल्प-रहित विश्वास।

(२) स्वधर्म-प्रियता।

(३) जानकारी का आदर।

(४) सर्व-हितकारी सद्भावना।

(५) सर्व इन्द्रियों का संयम।

(६) व्यर्थ चिन्तन का अभाव।

(७) की हुई भूल को पुनः न करना।

(८) समय का सदुपयोग।

(९) त्याग।

इन बलों के प्राप्त करने पर निर्बलतायें शेष नहीं रहतीं। इनको प्राप्त करने में साधक परतन्त्र नहीं है। जब तक निर्बलताओं की वेदना नहीं होती तभी तक साधक को परतन्त्रा प्रतीत होती है, क्योंकि सच्चाई सुगम है, कठिन नहीं; सम्भव है, असम्भव नहीं; स्वाभाविक है, अस्वाभाविक नहीं; प्राकृतिक विधान के अनुरूप है, विपरीत नहीं; अतः सच्चाई प्राप्त करने में प्राणी स्वतन्त्र है, परतन्त्र नहीं।

संत-वाणी १०

१—ऐसा कोई भी कार्य मत करो, जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते।

२—जिसकी आवश्यकता है, उसका अभाव स्वीकार न करो।

३—अपनी आवश्यकता से भिन्न किसी प्रकार का संग्रह न करो।

४—स्वीकृति को सत्ता मत समझो, क्योंकि स्वीकृति, अस्वीकृति से मिट जाती है।

५—सत्ता वही है, जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं हो सकता।

६—त्याग करनेवाले का त्याग अवश्य कर दो।

७—एक-निष्ठता सफलता की सर्वोत्कृष्ट कुञ्जी है।

× × ×

१—साधारण प्राणी साधन को जीवन का अंग बनाते हैं और विचारशील जीवन को साधन बनाते हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि जो साधन जीवन का अंगमात्र रहता है, उससे साधक की अभिन्नता नहीं हो पाती, अर्थात् साधक

और साधन में किसी न किसी प्रकार की दूरी बनी रहती है। अभिन्नता के बिना साधन, साधक तथा साध्य से एकता नहीं होती, अर्थात् साधक सदैव साधन तथा साध्य से भिन्न रहता है, जो परम दोष है, क्योंकि साधन वही सार्थक है, जो साधक को साध्य से अभिन्न कर सके। वह तभी हो सकता है कि जब जीवन ही साधन बन जावे, साधन जीवन का अंग-मात्र न रहे।

जो साधन जीवन का अंग मात्र रहता है, वह उसी प्रकार शृंगार-मात्र है, जिस प्रकार अनेक वस्तु तथा अलंकारों से विषयी प्राणी शरीर को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं।

गहराई से देखिये, वर्तमान जीवन वास्तविक नित्य जीवन का एकमात्र साधन है। परन्तु जब प्राणी प्रमाद-वश वर्तमान जीवन को ही जीवन मान लेता है, तब अनेक साधनों से जीवन को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् साधक तथा साधन एवं साध्य में सर्वांश में एकता न होने पर भी एकता का प्रयत्न करता है, जो असम्भव है। वास्तव में तो वर्तमान परिवर्तनशील जीवन को नित्य-जीवन का साधन समझना चाहिये। जिस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों की भिन्न भिन्न चेष्टायें एक ही अर्थ को सिद्ध करती हैं; उसी प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति क्रिया-दृष्टि से भिन्न भिन्न प्रकार की होने पर भी एक ही अर्थ में विलीन होनी चाहिये। तभी साधन सार्थक हो सकता है। जिस प्रकार अपनी सुन्दरता पर विश्वास न होने पर प्राणी अपने को भिन्न भिन्न वस्तुओं द्वारा सुन्दर बनाने का प्रयत्न

करता है, उसी प्रकार जो साधन साधक के अहंभाव से उत्पन्न नहीं होता, वह साधक के लिये शृंगार-मात्र है, जीवन नहीं।

गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए, अहंता-परिवर्तन के पूर्व शरीर इन्द्रियों द्वारा किया हुआ साधन साधक के जीवन को एक ही लक्ष्य में किसी भी प्रकार विलीन नहीं होने देता, क्योंकि ज्ञान, भाव तथा क्रिया की एकता नहीं होती। अहंता के परिवर्तन होने पर क्रिया ज्ञान एवं भाव की एकता हो जाती है, अर्थात् भक्त होने पर भक्ति स्वतः आ जाती है, जिज्ञासु होने पर विचार स्वतः उत्पन्न होता है, सेवक होने पर सेवा स्वभावतः आ जाती है; क्योंकि अहंभाव के विपरीत मन, इन्द्रिय आदि की चेष्टा नहीं होती। मन इन्द्रिय आदि तभी तक विरोध करते हैं, जब तक अहंभाव स्वीकृति के अनुरूप नहीं होता, जीवन का अंगमात्र रहता है। इसी कारण प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः अनुराग नहीं आता, क्रिया-भेद के साथ-साथ प्रीति तथा लक्ष्य-भेद भी हो जाता है, जो परम भूल है। जिज्ञासु बिना हुए किया हुआ विचार बुद्धि का व्यायाम है। सेवक बिना हुए की हुई सेवा पुण्य कर्म, भक्त बिना हुए किया हुआ भगवच्चिन्तन भोग प्राप्ति का साधन-मात्र है, भक्ति नहीं।

अहंभाव के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति में क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति तथा लक्ष्य-भेद नहीं होता। अतः प्रत्येक साधन का जन्म अहंभाव से होना चाहिये, अर्थात् जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है, उसके अनुरूप अहंता बना लो। ऐसा करते ही जीवन साधन

हो जावेगा। जब तक जीवन साधन नहीं होता तब तक वियोग का भय बना ही रहता है, अर्थात् स्थायी एकता नहीं होती। एकता के बिना साधक की सारी प्रवृत्तियां साधन नहीं होतीं।

अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है, क्योंकि अपनत्व होते ही प्रियता और प्रियता होते ही प्रेम-पात्र की अहेतुकी कृपा स्वतः होने लगती है। अतः यदि प्रेम-पात्र के प्रेम को चाहते हो, तो सब प्रकार से उनके हो जाओ। ऐसा करने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन की खोज नहीं करनी पड़ेगी। जिस प्रकार जिसे अपनी सुन्दरतापर सद्भाव होता है, वह अपने को अलंकारों की दासता में आबद्ध नहीं करता। उसी प्रकार जो साधन साधक का जीवन बन जाता है, उसे भिन्न-भिन्न बाह्य साधनों में आबद्ध नहीं होना पड़ता।

× × ×

२—जब प्रेमी वह कर डालता है, जो उसे करना चाहिये, तब क्या प्रेम-पात्र वह नहीं कर सकते जो उनको करना चाहिये? प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में केवल यही अन्तर है कि प्रेमी बेचारा कभी प्रमादवश कर्त्तव्य से कदाचित् वंचित भी हो जावे, परन्तु प्रेम-पात्र तो सर्वदा वही करते हैं जो करना चाहिये। जिन प्रेमियों को प्रेम-पात्र के कर्त्तव्य का विशेष ध्यान रहता है, उन बेचारों ने वास्तव में प्रेम-पात्र की महिमा को समझ नहीं पाया, अथवा यों कहो कि उन प्रेमियों का अभी पूर्ण अपनत्व नहीं हुआ। अपनत्व हो जाने पर कहने सुनने की बात शेष नहीं

रहती, अथवा उनके प्रभाव को जान लेने पर कुछ भी कहना शेष नहीं रहता।

अपनी दृष्टि से सच्चाई पूर्वक यह देखना चाहिये कि हम जो कुछ कर सकते हैं, वह कर दिया या नहीं। यदि कर दिया तो कुछ भी करना शेष नहीं है। यदि नहीं किया तो फिर कृपा के अधिकारी नहीं हैं।

बिना कृपा किये कृपा-सिन्धु किसी प्रकार नहीं रह सकते। हाँ, यह अवश्य है कि कृपा-सिन्धु की कृपा का अनुभव कृपा-पात्र को ही होता है।

जो प्रेमी अपनी सारी शक्ति लगाकर क्रिया को भाव में विलीन कर शिशु की भाँति प्रेम-पात्र की कृपा की प्रतीक्षा करता है, वह प्रेम-पात्र का पवित्र प्रेम अवश्य पाता है, यह निःसन्देह सत्य है। सच तो यह है कि कर्त्तव्य पालन में असमर्थता एवं असफलता है ही नहीं।

× × ×

३—इन नेत्रों को अनन्त सौन्दर्य क्यों नहीं दिखाई देता? इस कारण कि वे सीमित सौन्दर्य की दासता में आबद्ध हो जाते हैं।

इस मन को अनन्त नित्य रस क्यों नहीं मिलता? इस कारण कि वह सीमिति परिवर्तन शील रस में बँध जाता है।

इस बुद्धि को अनन्त नित्य ज्ञान क्यों नहीं मिलता ?, क्योंकि वह सीमित परिवर्तनशील ज्ञान के आस्वादन में बँध जाती है।

इस अहंता को अनन्त नित्य-जीवन क्यों नहीं मिलता? इसलिये कि वह सीमित परिवर्तन-शील जीवन में सद्भाव कर लेती है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार जितनी भूख होती है, उतना ही भोजन माँ खिलाती है। भूख न रहने पर सर्व-समर्थ माँ भी नहीं खिला पाती, यह सभी जानते हैं। उसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य्य संपन्न सर्वसमर्थ हमारी माँ हमें अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य्य का आस्वादन इस कारण नहीं करा पाती कि हम परिवर्तन-शील विषय-सुख में ही अपने को बांध लेते हैं, यद्यपि माँ अपनी अहेतुकी कृपासे उन विषयों को निरन्तर छिन्न-भिन्न कर त्याग का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करती है। हमें प्राकृतिक विधान का विरोध नहीं करना चाहिये। विधान का आदर करते ही हमारी सभी निर्बलताएँ अवश्य मिट जावेंगी। हम नित्य-जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जावेंगे। हमारी अवनति का मूल कारण प्राकृतिक विधान का विरोध है, अथवा यों कहो कि हम निज ज्ञान का निरादर करते हैं, अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन नहीं बनाते, प्रत्युत क्रिया जन्य रस मे आसक्त हो निज ज्ञान का तिरस्कार करते हैं। सच तो यह है कि ज्ञान तथा शक्ति ये दोनों आदर करते ही उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं और निरादर करते ही घटते जाते हैं। अतः प्राप्त ज्ञान तथा शक्ति का सदुपयोग उन्नति का मूल साधन है।

४—जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है उसी प्रकार प्रेमी को सर्वत्र प्रेमपात्र दिखाई देता है। अर्थ से तदाकार होने पर ज्ञाता की सत्ता भिन्न नहीं रहती; उसी प्रकार प्रेम-पात्र से तदाकार होने पर प्रेमी की सत्ता भिन्न नहीं रहती, क्योंकि ज्ञाता और अर्थ की तथा प्रेमी और प्रेम-पात्र की जातीय एकता है।

× × ×

५—जब प्राणी गुणों का उपभोग करने लगता है, तब गुणों का विकास रुक जाता है, क्योंकि उपभोग काल में उपार्जन नहीं कर सकता। यद्यपि अनित्य-जीवन में उपभोग के लिये कोई स्थान नहीं है, क्योंकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता नित्य-जीवन है, तथापि बेचारा प्रमादवश उपार्जन करने की शक्तियों को उपभोग में लगा देता है। गुण तब तक मालूम होते हैं, जब तक गुण गुणी का जीवन नहीं होते, क्योंकि जिसकी एकता अहंता से हो जाती है, वह प्रतीत नहीं होती। जब जीवन में पूर्ण निर्दोषता आ जाती है, तब दोष की उत्पत्ति नहीं होती और गुण प्रतीत नहीं होते। किसी बुराई का न होना कोई विशेषता नहीं है, विशेषता तो यह है कि बुराई उत्पन्न ही न हो। संकल्प के बल से बुराई को रोकना बुराई करने की अपेक्षा श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु निर्दोषता आने पर तो रोकने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि बुराई उत्पन्न ही नहीं होती।

× × ×

६—जो 'विभक्त नहीं है' वही भक्त है। भक्त तो निरन्तर

सद्भाव-पूर्वक प्रेम-पात्र का होकर ही रहता है। जब भक्त सब प्रकार से उनका हो जाता है, तब भक्त की सत्ता भक्ति होकर अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य्य-सम्पन्न भगवान् का आस्वादन करती है।

भक्ति से भिन्न भक्त की कुछ भी सत्ता शेष नहीं रहती। भक्ति के आते ही निर्वासना स्वाभाविक आ जाती है। निर्वासना होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य-गुण स्वतः आ जाते हैं। प्रेम-पात्र से मिली हुई सीमित शक्तियों को अपना मत समझो, अर्थात् उन्हें प्रेम-पात्र के उसी प्रकार समर्पण कर दो, जिस प्रकार मिट्टी कुम्हार के समर्पण हो जाती है, क्योंकि ऐसा करने पर ही प्राणी भक्त हो सकता है।

यह भली प्रकार समझ लो कि मिट्टी कुम्हार की योग्यता तथा बल से ऐसी बन जाती है कि कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है। उसी प्रकार जो भक्त मिट्टी की भाँति प्रेम-पात्र के समर्पण हो जाता है, वह प्रेम-पात्र के अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य्य से प्रेम-पात्र के काम आता है और उनका प्यार पाता है। इतना ही नहीं प्रेम-पात्र प्रेमी के ऋणी बन जाते हैं।

× × ×

७—जिसका परिवर्तन अनिवार्य है, वह प्राणी की आवश्यकता नहीं हो सकती। प्राणी की वास्तविक आवश्यकता वही हो सकती है, जिसका वियोग न हो, क्योंकि संयोग की दासता तथा वियोग का भय किसी भी प्राणी को सह्य नहीं है।

स्वाभाविक अप्रियता उसी से होती है जिसकी आवश्यकता न हो।

जिसका वियोग नहीं है, उससे देश काल की दूरी कदापि नहीं हो सकती। जिससे देश काल की दूरी नहीं है, उसके लिये भविष्य की आशा उचित नहीं मालूम होती, क्योंकि वर्तमान में मिल सकती है। होते हुए भी न मिले तो 'न जानने' की दूरी समझनी चाहिये। 'न जानने' की दूरी एकमात्र जानने से ही मिट सकती है। 'न जानने' का दोष मिटाने के लिये किसी वाह्य संघ की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञान किसी *वस्तु से नहीं आता, प्रत्युत ज्ञान स्वयं वस्तुओं को प्रकाशित करता है। 'ज्ञान' जिसका स्वरूप है वह वस्तु नहीं है। अतः ज्यों ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों 'ज्ञान' की कृपा से स्वतःजिज्ञासा की पूर्ति होती जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही 'न जनाने' को दूरी मिट जाती है और प्राणी अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। 'न जानने का दोष मिटाने के लिये तीव्र जिज्ञासा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है, जिसे साधक स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है।

सच तो यह है कि प्राणी आवश्यकता-पूर्ति में स्वतन्त्र और इच्छाओं की प्रवृत्ति में सर्वदा परतन्त्र है। साधारण प्राणी

---

*नोट—साधारणतः वस्तु तथा सत्ता को एक अर्थ में लेत हैं, परन्तु तात्विक-दृष्टि से भेद है। वस्तु परप्रकाश परिवर्तनशील तथा सीमित होती है। सत्ता स्वयं-प्रकाश नित्य एवं असीम होतो है। इतना ही नहीं वस्तुओं में वस्तुत्व सत्ता द्वारा ही प्राप्त होता है।

इच्छा और आवश्यकता का भेद नहीं जानते, इस कारण परतन्त्रता की वेदना से पीड़ित रहते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख युक्त है। वास्तव में तो प्राकृतिक न्याय है कि जिस प्रकार कारागार के नियमों का पालन करने पर प्राणी कारागार से छूट जाता है, उसी प्रकार प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर प्राणी परिस्थिति से असंग हो जाता है। परिस्थिति से असंग होते ही प्रेमी को प्रेम-पात्र और जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान स्वतः प्राप्त होता है।

भक्त को भगवान् से, जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान से, परिस्थिति की दासता ने विमुख किया है। इतना ही नहीं परिस्थिति में आबद्ध प्राणी विश्व का भी ऋणी बन जाता है। जो विश्व का ऋणी है वह न जिज्ञासु है, न भक्त। इस कारण उन्नतिशील प्राणी सुख-दुख-युक्त परिस्थिति का सेवा तथा त्याग द्वारा सदुपयोग कर विश्व के ऋण से मुक्त हो, प्रेम-पात्र के प्रेम का आस्वादन कर कृत-कृत्य हो जाते हैं। यद्यपि प्रेम-पात्र प्रेमी की सतत प्रतीक्षा करते हैं, परन्तु अभागा प्रेमी, प्रेमी न होकर, परिस्थिति का दास बन, प्रेम-पात्र के नित्य अनन्त प्रेम से विमुख हो, सुख-दुख के जाल में फँस जाता है।

× × ×

८—आवश्यकता की अपूर्ति असह्य होती है और इच्छा की अपूर्ति सहन होती रहती है। आवश्यकता वर्तमान से सम्बन्ध रखती है, इच्छा भविष्य से। आवश्यकता की उत्पत्ति अहंता से

होती है और इच्छा की उत्पत्ति आसक्ति से होती है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, इच्छा की निवृत्ति होती है। आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति होने पर नित्य-जीवन का अनुभव होता है।

× × ×

९—जिसकी प्रवृत्ति प्रिय हो और अन्त में कुछ न मिले, वह इच्छा है।

जिसका मिलन प्रिय हो और प्रवृत्ति कुछ न हो, वह आवश्यकता है।

प्रवृत्ति—किसी की ओर दौड़ना (उसकी ओर दौड़ना, जो न मिले)।।

आवश्यकता—जो अपने आप आ जावे, वह आवश्यकता है।

प्रमाद—'नहीं' को 'नहीं' न मानना प्रमाद है। 'है' को 'है' न जानना प्रमाद है। साधन को साध्य मान लेना प्रमाद है। क्रिया-मात्र को ही जीवन मान लेना प्रमाद है। अनुभूति का निरादर प्रमाद है।

× × ×

१०—सर्व हितकारी प्रवृत्ति संसार का सौन्दर्य है। सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है। निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है।

× × ×

११—उपभोग 'कर्म' से, भगवान् 'सद्भाव' से, ज्ञान 'त्याग'

से मिलता है।

वासना-युक्त प्रवृत्ति 'कर्म', सब प्रकार से भगवान् का हो जाना 'सद्भाव' और निर्वासना 'त्याग' है।

राग-युक्त दशा में क्या करना पड़ता है? संयोग। उसकी निवृत्ति के लिये क्या करना है? वियोग।

प्राणी की आवश्यकता क्या है? नित्य-जीवन, नित्य-रस।

संयोग में वियोग अनुभव करते ही आवश्यकता की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

प्रवृत्ति की रुचि 'कर्म', प्रवृत्ति से अरुचि 'वैराग्य', प्रवृत्ति-पूजन हो जाना 'भक्ति', प्रवृत्ति का अभाव 'तत्त्वज्ञान' और अभाव का अभाव 'विज्ञान' है।

प्रवृत्तियों के अभाव से राग की निवृत्ति होती है और राग-निवृत्ति से 'तत्त्वज्ञान' स्वतः हो जाता है। *निवृत्ति की निवृत्ति होने पर 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान हो जाता है, जिसके होने से शक्ति और शान्ति प्राप्त होती है। केवल ज्ञान से शान्ति तथा ज्ञान-निष्ठा से शक्ति आती है। शक्ति तथा शान्ति से जीवन की पूर्णता होती है। इस कारण विचारशील तत्त्वज्ञ होने पर भी तत्त्व-निष्ठा के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

× × ×

जो किसी का नहीं, तथा जिसका कोई नहीं, उसका भगवान् अपने आप हो जाता है, क्योंकि वे अनाथ के नाथ हैं। जो किसी

* नोट—निवृत्ति की निवृत्ति, निवृत्ति का अभिमान गल जाना है।

का नहीं, तथा जिसका कोई नहीं उसे किसी का चिन्तन नहीं होता। जिसे किसी का चिन्तन नहीं होता, उसकी सारी शक्ति भगवान् में विलीन हो जाती है। भगवान् में विलीन हुई शक्ति अनन्त एवं नित्य हो जाती है, क्योंकि यह उनका स्वरूप है।

× × ×

भक्त पर सुख, दुःख तथा चिंता आदि का शासन नहीं होता।

अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है।

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अपने आप आये हुए सुख को बाँट देना और अपने आप आये हुए दुःख से त्याग का पाठ पढ़ लेना परम पुरुषार्थ है।

उसकी खोज करो जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते।

प्रश्न—वह कौन सी अच्छाई है कि जिसके अपनाते ही अनन्त काल के दोष मिट जाते हैं ?

उत्तर—"त्याग", क्योंकि त्याग से दोषी की सत्ता ही शेष नहीं रहती, तो फिर दोष किस प्रकार जीवित रह सकते हैं, अर्थात् कदापि नहीं। गहराई से देखिये, ऐसा कोई दोष नहीं होता जिसका जन्म दोषो से न हो, अर्थात् प्रत्येक दोष-युक्त चेष्टा दोषी का ही रूपान्तर होती है। 'त्याग' अपनाते ही दोषी-भाव मिट जाता है। उसके मिटते ही प्राणी सब पकार से निर्दोष परम-तत्त्व के शरणापन्न हो कृतकृत्य हो जाता है।

× × ×

भिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है, जो वास्तव में प्रमाद है। बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। अभिमान के लिये मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। "है" से भिन्नता और "नहीं" से अभिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है, अथवा यों कहो कि अभिमान उत्पन्न होने पर "है" (प्रेम-पात्र) से भिन्नता एवं "नहीं" (दृश्य) से एकता का भाव उत्पन्न होता है, जो दीनता का मूल कारण है। यदि 'अदीन' होना चाहते हो, तो प्रथम अभिमान मिटा दो। अभिमान के मिटते ही दीनता सदा के लिये मिट जावेगी और फिर अपने में ही सब कुछ अनुभव होगा, अर्थात् 'यह' (दृश्य), 'वह' (परमात्मा), 'मैं' इन तीनों की अभिन्नता हो जावेगी।

अभिमान को अपनानेवाला प्राणी आस्तिक कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि आस्तिकता 'है' से एकता और 'नहीं' से भिन्नता उत्पन्न करती है।

परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि रहने से अभिमान सुरक्षित रहता है। निरभिमान होने पर बड़ी से बड़ी बुराई, अच्छाई में बदल जाती है, क्योंकि निरभिमानता आते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है, अतः निरभिमानिता आने पर दीनता एवं अभिमान दोनों ही मिट जाते हैं।

× × ×

प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के स्वभाव में केवल यही अन्तर है कि प्रेम-पात्र प्रेमी को कभी नहीं भूलता; प्रेमी सुखासक्ति के कारण प्रमाद-वश भूल जाता है, परन्तु यह जानकारी प्रेमी को नहीं होती कि प्रेम-पात्र नहीं भूलते। प्रेमी तो अपने स्वभाव के अनुसार यही समझता है कि प्रेम-पात्र भूल गये होंगे। गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये कि आनन्दघन प्रेम-पात्र प्रेमी को स्वयं चाहते हैं, क्योंकि आनन्द किसी ने देखा नहीं, परन्तु आनन्द की रुचि प्रत्येक मानव में स्वाभाविक है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन प्रेम-पात्र चाहते हैं। प्रेम आरम्भ में एकांगी होता है। जिस प्रकार मां के प्यार से शिशु के मन में मां की चाह उत्पन्न होती है और दीपक के जलने पर ही पतंगा उस पर मोहित होता है, उसी प्रकार प्रेम-पात्र के

पवित्र प्रेम के कारण ही प्रेमी के मन में प्रीति जाग्रत होती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रेमपात्र प्रेमी को कभी नहीं भूलते।

साधारणतः सत् तथा असत् का होना कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि सत् के होते हुए भी प्राणी वियोग के भय से भयभीत है और असत् को असत् समझने पर भी संयोग की दासता में आवद्ध है, अर्थात् वियोग का भय तथा संयोग की दासता प्राणी पर शासन करती रहती है, जब तक कि सत् की आवश्यकता न हो और असत् से अरुचि न हो। आवश्यकता से सम्बन्ध, सम्बन्ध से प्रियता, प्रियता से व्याकुलता एवं व्याकुलता से सफलता स्वतः होती है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से अखंड आनन्द की आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य है।

यद्यपि आनन्द की आवश्यकता प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक विद्यमान है, परन्तु उसको भोगेच्छा की आसक्ति ने ढक लिया है। इस कारण स्वाभाविक आवश्यकता (Natural want) निर्जीव सी हो जाती है और भोगासक्ति के कारण भोगेच्छा जो वास्तव में (Unnatural desire) है और जिसका जन्म एकमात्र प्रमाद तथा राग एवं दीर्घकाल के अभ्यास से हुआ है, सजीव सी प्रतीत होती है। वास्तव में तो अस्वाभाविक (Artificial) है।

असत्य को असत्य समझने मात्र से ही असत्य से छुटकारा नहीं मिलता। गहराई से देखिये सिनेमा अभिनय आदि भिन्न

भिन्न प्रकार की स्वीकृतियों को मिथ्या समझते हुए भी उनमें आसक्ति हो जाने के कारण प्राणी बँध जाता है। सत्य की आवश्यकता ज्यों ज्यों स्थायी तथा सबल होती जाती है, त्यों त्यों असत्य से छुटकारा स्वतः होता जाता है। ज्यों ज्यों असत्य से छुटकारा होता जाता है, त्यों त्यों सत्य से अभिन्नता होती जाती है। इस दृष्टि से असत् से छुटकारा तथा सत्य से अभिन्नता कराने में सत्य की आवश्यकता ही समर्थ है। गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये, सत् असत् को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है; अतः सत् की आवश्यकता सत् से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है।)

आनन्द की आवश्यकता ज्यों ज्यों सबल होती जाती है, त्यों त्यों व्याकुलता की अग्नि प्रज्वलित होती जाती है और ज्यों ज्यों व्याकुलता की अग्नि स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं। तीव्र व्याकुलता जाग्रत होने पर साधक को किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती, इस कारण आनन्द के अभिलाषी को यदि स्वतन्त्रतापूर्वक वर्तमान में ही आनन्द प्राप्त करना है, तो घोर व्याकुलता जाग्रत करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। आनन्द से निराश होना भूल है, क्योंकि यह प्राणी की निज की सम्पत्ति है। सुख दुख से मुक्त होने पर आनन्द की आवश्यकता स्थायी होती है। सेवा तथा त्याग से सुख दुःख का बन्धन टूट जाता है।

× × ×

जिस संयोग के बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकते, उसको संयम पूर्वक करो। ऐसा करने से संयोग की दासता मिट जायेगी और संयोग मे वियोग देखने की शक्ति आ जायेगी। यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक सयोग बिना ही प्रयत्न वियोग मे विलीन होता है, किन्तु संयोग की दासता के कारण वियोग होने पर भी संयोग ही बना रहता है, जो प्राकृतिक विधान का निरादर है। उस निरादर के मिटाने के लिये वियोग अपनालेना अनिवार्य है, अर्थात् स्वयं विचार-पूर्वक सयोग में वियोग देखने का प्रयत्न करो।

लक्ष्य पर दृष्टि रखने से अर्थात् स्वाभाविक आवश्यकता को न भूलने से वियोग अपनाने मे सुगमता होगी। अतः आवश्यकता कभी मत भूलो।

× × ×

सुख का उपभोग करने पर प्राणी के जीवन मे प्रमाद बेइमानी, हृदय-हीनता एवं परतंत्रता आ जाती है। गम्भीरता-पूर्वक विचार कीजिए, जबतक प्राणी प्रमाद को नहीं अपनाता, अर्थात् परिवर्तन में अपरिवर्तन भाव नहीं स्वीकार करता तथा विश्व की वस्तुओं को अपनी वस्तु नहीं मानता, अर्थात् ईमानदारी का त्याग नहीं करता, तथा अपने से अधिक दुःखियों को देखते हुए भी दुखी नहीं होता, अर्थात् हृदय-हीनता को अपना लेता है, एवं जब तक वस्तुओं से अपना मूल्य घटाकर उनके आधीन हो परतन्त्रता स्वीकार नहीं करता, तब तक सुख

का उपभोग सिद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुखी जीवन तथा पशु जीवन में कोई भेद नहीं है। मानव-जीवन में सुख-उपभोग के लिये कोई स्थान नहीं है, प्रत्युत सुख के बन्धन से मुक्त होने के लिये सतत प्रयत्नशील है। आध्यात्मिक जीवन (Spritual-Life) में सुख की सत्ता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि आनन्द से अभिन्नता हो जाती है; अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सुख का उपभोग पशु-जीवन है। साधारण प्राणी सुख की दासता को दुःख मानते हैं, जो वास्तव में भूल है। सुख की दासता तो सुख से भी अधिक हेय है, क्योंकि सुख तो बाँटा जा सकता है, किंतु सुख की दासता न तो अपने काम आती है और न अन्य किसी के, अर्थात् उससे किसी अर्थ की सार्थकता सिद्ध नहीं होती है। हाँ यह अवश्य है कि सुख की दासता का चिन्तन न तो दुखी होने देता है और न सुखी। इस कारण विचारशील सुख की दासता को नहीं अपनाते। अपनी वास्तविक कमी का ज्ञान और उसको मिटाने का प्रयत्न सच्चा दुःख है, जिसके अपना लेने पर प्राणी का विकास अवश्य होता है। अतः सुख की दासता को दुख नहीं समझना चाहिये।

× × ×

परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिये आस्तिकता, (ईश्वर-विश्वास तथा आत्म-विश्वास) निरभिमानिता, (स्वीकृति-जन्य सत्ता में सद्भाव न रहना) निर्भयता, सहनशीलता, (प्रतिकूल तथा अनुकूल आक्रमणों के प्रभाव से भयभीत न होने

आदि का बल) तथा कार्य-कुशलता की योग्यता, प्राणिमात्र के प्रति हृदय में प्यार, इनके अनुरूप जीवन का होना परम अनिवार्य है। परिस्थिति का सदुपयोग होने पर परिस्थिति से असंगता अपने आप आ जाती है और सभी परिस्थितियों से असंग होने पर प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य को त्याग, सीमित ऐश्वर्य माधुर्य से सन्तुष्ट होने का स्वभाव ही परम 'प्रमाद' है।

उस प्रवृत्ति का नितान्त अन्त कर देना चाहिये, जो किसी अन्य के हित तथा प्रसन्नता का साधन न हो, क्योंकि अपनी पूर्ति एकमात्र स्वार्थ-त्याग द्वारा ही हो सकती है। यह निःसन्देह सत्य है।

प्रत्येक अवस्था कर्ता का विकास है, अतः कर्ता का अभाव होते ही अवस्थातीत निज-स्वरूप का स्वयं बोध हो जाता है। ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो किसी न किसी क्रिया से न उत्पन्न हो। ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो कर्ता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई कर्ता नहीं है, जो सीमित न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक अवस्था सीमित कर्ता का विकास है और कुछ नहीं। परन्तु प्राणी की आवश्यकता असीम, निर्विकार, नित्य-जीवन नित्य-रस की है। अतः सीमित कर्ता का अभाव आवश्यकता-पूर्ति के लिये परम अनिवार्य है।

इच्छाओं की निवृत्ति होने पर जब आवश्यकता जाग्रत हो जाती है, तब सीमित-कर्ता को अन्त करने की शक्ति स्वयं आ जाती है।

× × ×

जो कहना चाहिये, उसके कहने पर मौन अपने आप हो जाता है। जो करना चाहिये उसके करने पर निश्चिन्तता अपने आप आ जाती है, अर्थात् प्रत्येक क्रिया का सदुपयोग करने पर निष्क्रियता का आ जाना परम अनिवार्य है, क्योंकि काम के न रहने पर अहंता गल जाती है, अथवा यों कहो कि निर्जीव यंत्र की भांति हो जाती है। अत. यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो करना चाहिए, उसके करने पर 'करना' शेष नहीं रहता।

भक्त होने पर भक्ति स्वयं उत्पन्न होती है। भक्त होना ही भक्ति का प्रचार करना है। भक्ति किसी अभ्यास का नाम नहीं है। भक्त को भगवान् से जो तद्रूप कर देती है, वही भक्ति है। जब प्राणी संसार से विभक्त हो जाता है, तब वह भक्त अपने आप हो जाता है। जीवन की घटनाओं का यथार्थ अध्ययन करने पर तथा वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जो प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता, उसका जीवन साधन नहीं हो पाता। जीवन साधन होने पर, क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति भेद तथा लक्ष्य-भेद नहीं होता।

× × ×

विश्वास-मार्ग तथा विचार-मार्ग, ये दोनों भिन्न भिन्न

स्वतन्त्र मार्ग हैं। विश्वास में विचार के लिये, विचार में विश्वास के लिये कोई स्थान नहीं है। विचारशील प्रथम जानता है, पश्चात् मानता है, अर्थात् जानने के पश्चात् भक्त होता है। विचार उदय होता है, किया नहीं जाता। विचार के उदय होते ही अविचार समूल नष्ट हो जाता है। अविचार मिटते ही साधक, साधन तथा सिद्धि, इन तीनों में एकता हो जाती है।

जिज्ञासु के लिये आनन्दघन भगवान् का विचार के स्वरूप मे स्वयं प्राकट्य होता है, अतः विचार किया नहीं जाता, अपने आप होता है। जिज्ञासु वही है जो अपनी अनुभूति के अनुरूप सदोष सत्ता का त्याग करने मे समर्थ है, अर्थात् जिज्ञासु कभी अपनी दृष्टि से देखे हुए दोषों के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह नियम है कि जो प्राणी अपने ज्ञान का आदर करता है, उसे (ज्ञान और कर्म की एकता होने पर) भगवान् की कृपा से ज्ञान अपने आप हो जाता है; अतः विचारशील भी विश्वास-मार्गी की भाँति भगवान् की ही कृपा से सफलता पाता है। केवल बुद्धि का व्यायाम विचार नहीं है।

विश्वास-मार्गी वही प्राणी हो सकता है, जो आस्तिकता से इन्कार नहीं करता, अर्थात् जिसने हृदय् तथा मस्तिष्क दोनों से भली प्रकार सद्भाव पूर्वक यह निश्चय कर लिया है कि भगवान् अवश्य हैं, उसे इस बात के जानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि भगवान् सविशेष हैं या निर्विशेष। यह काम तो भगवान् का है कि वह अपने भक्त की पूर्ति के लिये अपने

आप अपने को प्रकाशित करें, जिस प्रकार दीपक अपने को प्रकाशित कर पतंगों को अपने में विलीन कर लेता है। यदि दीपक स्वयं अपने को प्रकाशित न करता तो पतंगा आकर्षित कदापि न होता। हाँ, यह अवश्य है कि पतंगे के हृदय में दीपक की रुचि विद्यमान थी। उसी प्रकार भक्त के हृदय में जैसी रुचि विद्यमान है, उसके अनुरूप भगवान् का प्राकट्य अपने आप होगा। भक्त का केवल यही परम धर्म है कि वह सद्भाव पूर्वक उनका हो जावे। यदि भक्त की अहंता में साकार भाव शेष है, तो भगवान् का सगुण प्राकट्य अवश्य होगा। यदि भक्त की अहंता में से साकार भाव निःशेष हो गया है, तो भगवान् भक्त के लिये तत्त्व ज्ञान के स्वरूप में प्रकट होंगे। मेरे विश्वास के अनुसार भक्त को भगवान् के विषय में अपनी ओर से कोई कार्टून (Cartoon) नहीं बनाना चाहिये और न सीमित धारणा बनानी चाहिये कि भगवान् सविशेष नहीं हैं। भगवान् अनन्त हैं, सविशेष भी हैं, निर्विशेष भी हैं और दोनों से परे भी हैं। यह अलौकिकता केवल भगवत्तत्त्व में ही है कि जिसके विषय में कोई सीमित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती।

जब दोनों प्रकार की बातें हृदय में हल चल कर रही हों; ऐसी दशा में साधक को केवल भगवान् का स्मरण करना चाहिये, अर्थात् हृदय में व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिये। साधारण प्राणी केवल जप को स्मरण मानते हैं। जप और

स्मरण में भेद है। जप में क्रिया की अधिकता और भाव की न्यूनता होती है। स्मरण में शुद्ध भाव की अधिकता और क्रिया लेशमात्र होती है, अर्थात् स्मरण में केवल भाव की प्रबलता होती है। जप केवल स्वीकृति मात्र से हो सकता है, परन्तु स्मरण तब तक नहीं हो सकता है, जब तक प्राणी सद्भाव पूर्वक उनका न हो जावे, क्योंकि स्मरण सम्बन्ध के बिना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जब तक स्मरण न उत्पन्न हो, तब तक जप करना परम अनिवार्य है। जप सगुण भी है और निर्गुण भी है। जप की क्रिया सगुण तथा अर्थ निर्गुण है। जप करने से संबन्ध करने की शक्ति आ जायेगी। संबन्ध होते ही विरहाग्नि प्रज्वलित होगी। जो सभी विकारों को जला देगी।

व्याकुलता के बिना न तो सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, न तत्त्वज्ञान। व्याकुलता रहित निर्जीव यंत्र की भाँति साधन करना क्रिया-परिवर्तन से भिन्न कुछ अर्थ नहीं रखता। आस्तिकता कर्म नहीं है। कर्म से तो भोग की प्राप्ति होती है। आस्तिकता प्राणी का जीवन है। शुभ कर्म भोग के यथार्थ ज्ञान कराने का साधन है। अशुभ कर्म से तो भोग भी प्राप्त नहीं होते। शुभ कर्म से संसार का यथार्थ ज्ञान होता है और आस्तिकता उत्पन्न होने की शक्ति आ जाती है। अतः वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर भगवान् का निरन्तर स्मरण करना चाहिये।

× × ×

हठयोग तथा राजयोग मे केवल यही अन्तर है कि हठयोग

प्रथम प्राण का निरोध करने का प्रयत्न करता है, तथा राजयोग प्रथम मन का निरोध करने का प्रयत्न करता है। मन के निरोध से प्राण का निरोध अपने आप हो जाता है, और प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतः विचारशील प्राणी प्राण-निरोध की अपेक्षा मन-निरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। मन का निरोध प्रेम-पात्र के नाते वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से, वासनाओं के त्याग से, आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से, एवं एक काल में एक ही कार्य करने से, कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा देने से, और कार्य के अन्त में कार्य से सम्बन्ध विच्छेद कर देने से अपने आप हो जाता है। मन का निरोध होने पर छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है।

यदि प्राणी प्रथम साधन, अर्थात् जिसको उसने आरंभ किया है, उस कार्य को यदि ठीक-ठीक कर लेता है, तो उससे आगे आनेवाला साधन अपने आप उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार जीवन की पूर्णता मृत्यु में बदलती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधन में अपने आप बदल जाता है। अर्थात् जब साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी साधन को आरंभ कर देता है, तो आवश्यक साधन तथा शक्तियाँ अपने आप प्रकट होने लगती हैं। अध्यात्म उन्नति तथा भौतिक उन्नति में यही अन्तर है कि अध्यात्म-उन्नति का साधक योग्यतानुसार साधन आरम्भ करते ही स्वतन्त्रता-पूर्वक सफलता प्राप्त करता है, क्योंकि अध्यात्म-उन्नति निज की सम्पत्ति है। भौतिक

उन्नति का साधक प्रत्येक स्थल (Stage) पर कुछ न कुछ वाह्य सहायता एवं परतंत्रता का अनुभव करता है। इसी कारण भौतिक उन्नति में परतंत्रता बनी रहती है, क्योंकि उसका जन्म परतंत्रता में ही होता है।

सच बात तो यह है कि अध्यात्म-उन्नति, प्राणी सर्वदा स्वतंत्रता-पूर्वक कर सकता है, क्योंकि स्वतंत्रता का साधन परतंत्रता कदापि नहीं हो सकती। अतः आप अपनी योग्यता-नुसार अपने मन, इन्द्रिय आदि को सब ओर से हटालो। सब ओर से हटाने पर आपको अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव होगा।

संसार से सच्ची निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना अध्यात्म-उन्नति का सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।

× × ×

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जब आवश्यकता इच्छाओं को खा कर सजीव तथा सबल हो जाती है तब आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति अपने आप आ जाती है। प्राणी आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतंत्र है और भोगों को सुरक्षित तथा नित्य बनाने मे सर्वदा परतंत्र है। मानव-जीवन में उपभोग का स्थान केवल भोग के यथार्थ ज्ञान के लिये है, क्योंकि भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर भोग से अरुचि अपने आप हो जाती है। भोग से अरुचि होते

ही भोग-वासना का अन्त हो जाता है। भोग वासनाओं का अन्त होते ही प्रेम-पात्र (नित्य-जीवन) की आवश्यकता जाग्रत हो जाती है। नित्य-जीवन की आवश्यकता जाग्रत होते ही निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अलौकिक दिव्य गुण अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रयत्न दोषों की निवृत्ति के लिये किया जाता है। दोषों की निवृत्ति होते ही गुण अपने आप उत्पन्न होते हैं। निवृत्ति उसी की होती है, जो अस्वाभाविक (Artificial) हो। दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है, इसी कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है। दोष उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक दोषी स्वयं उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाता, अर्थात् निर्बलताओं को देखने पर निर्बलतायें भाग जाती हैं। ज्यों ज्यों निर्बलताओं का ज्ञान होता जाता है, त्यों त्यों बल की आवश्यकता जाग्रत होती जाती है। ज्यों ज्यों बल की आवश्यकता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों निर्बलता बल में उसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है, जिस प्रकार काष्ठ अग्नि में, अतः अपनी निर्बलताओं को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना निर्बलताओं को मिटाने के लिये परम आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी कल्पतरु की छाया में सर्वदा निवास करता है, अतः उन्नति से निराश होने के लिये वर्तमान जीवन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वर्तमान अनित्य जीवन वास्तव में नित्य जीवन की आवश्यकता मात्र है और कुछ नहीं। आवश्यकता

तथा आवश्यक सत्ता में केवल जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता होती है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो आवश्यकता की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी। पूर्ति उसी की होती है, जिससे मानी हुई भिन्नता तथा जातीय एकता हो। आवश्यकता से जातीय एकता और इच्छाओं से मानी हुई एकता है। इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति परम अनिवार्य है। इच्छाओं की उत्पत्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद वास्तव में स्वीकृति मात्र को सत्ता मान लेने से होता है। इच्छाओं के बादल छा जाने पर आवश्यकता रूपी सूर्य ढक सा जाता है। इच्छायें आवश्यकता को मिटा नहीं पाती हैं, परन्तु आवश्यकता इच्छाओं को खा लेती है। इस दृष्टि से आवश्यकता स्वाभाविक और इच्छाये अस्वाभाविक सिद्ध होती हैं। आवश्यकता कब से उत्पन्न हुई, किसी को पता नहीं, किंतु उसको पूर्ति होने पर आवश्यकता की सत्ता शेप नहीं रहती। प्रेमी आवश्यकता और प्रेम-पात्र आवश्यक सत्ता है। प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के मिलन के लिये किसी तीसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् प्रेमी स्वतंत्रता पूर्वक प्रेम-पात्र से मिल सकता है। प्रेम-पात्र तथा प्रेमी में यही अन्तर है कि प्रेमी, प्रेम-पात्र को विपयासक्ति के कारण भूलने लगता है, परन्तु प्रेम-पात्र कभी भी प्रेमी को नहीं भूलता। प्रेम-पात्र तो प्रेमी को अपनाने के लिये निरन्तर प्रतीक्षा करता है। जिस काल मे प्रेमी, प्रेमी हो जाता है, बस उसी काल मे प्रेम-पात्र प्रेमी को अपना लेता

है, अर्थात् प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में दूरी उसी काल तक रहती है कि जब तक प्रेमी प्रेमी नहीं हो पाता। जब प्रेमी सद्भाव पूर्वक प्रेम-पात्र का हो जाता है, तब प्रेम-पात्र प्रेमी की सभी निर्बलताओं को खा लेते हैं, क्योंकि दुःखी का दुख दुःखहारी भगवान् का भोजन है। प्रेमी प्रेम-पात्र से अपनत्व करता है और प्रेम-पात्र प्रेमी को प्रेम करता है। अपनत्व भाव है, प्रेम जीवन है तथा सत्ता है। अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमी अपनत्व के बल से प्रेम-पात्र को पाता है। यह भली भाँति समझ लो कि जिसमें आवश्यकता है, वह प्रेम नहीं कर सकता, केवल अपनत्व कर सकता है। प्रेम एक मात्र प्रेम-पात्र ही कर सकते हैं, क्योंकि प्रेम-पात्र सब प्रकार से समर्थ तथा पूर्ण हैं। प्रेमी को अपनाना प्रेम-पात्र का स्वाभाविक, पवित्र, नित्य, अनन्त-माधुर्य है। प्रेम वही कर सकता है, जो देता है, लेता नहीं। साधारण साधक केवल गुणों के बल से प्रेम-पात्र के दिव्य-गुणों को पाता है। किन्तु अपनत्व के बल से प्रेमी, प्रेम-पात्र तथा गुण दोनों ही को पाता है। अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ बल है। अपनत्व हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अपनत्व का हो जाना ही भक्ति की दृष्टि से परम पुरुषार्थ है। अपनत्व भाव है, अतः प्राणी स्वतंत्रता पूर्वक कर सकता है।

आनन्दघन भगवान् से अपनत्व करने के लिये परतंत्रता लेश-मात्र भी नहीं है। विषयों से सम्बन्ध करने में जो स्वतन्त्रता की झलक मालूम होती है, वह विषयों का राग मिटाने के लिये

प्रेम-पात्र की कृपा-मात्र है, क्योंकि जिस राग को प्राणी विचार से नहीं मिटा पाता, उसको जानकारी पूर्वक मिटाने के लिये भगवान् विषयों की पूर्ति का अवसर देते हैं। सधारण प्राणी विषयेच्छा की पूर्ति के रस में फँसकर आनन्दघन भगवान् से विमुख हो जाते हैं। अनित्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोग करने के लिये मिली है। परिस्थितियों का सदुपयोग करते ही परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्रेम-पात्र से स्वतः संबन्ध हो जाता है। परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि करना भारी भूल है।

× × ×

योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम से शक्ति प्राप्त होती है। प्राणी जितना कर सकता है, एवं जितना जानता है, उसके अनुरूप जीवन होने पर ही आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति कर सकता है। बड़े आश्चर्य की वात यही है कि प्राणी जो कर सकता है, वही नहीं करता, अथवा उसकी अनुभूति तथा कर्म मे भेद रहता है। जिसकी क्रिया-शक्ति निज ज्ञान में ही विलीन होती रहती है, वह सुगमता-पूर्वक सत्य को पा लेता है। ज्ञान और कर्म में भेद रखना ही अकर्तव्य है। अकर्तव्य निकल जाने पर कर्तव्य अपने आप आ जाता है। अपने कर्तव्य का ज्ञान प्रत्येक कर्ता मे विद्यमान है। कर्तव्य-पालन करने पर कर्ता की सत्ता लक्ष्य मे विलीन हो जाती है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

वतमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति विलीन-सी हो जाती है, अर्थात् इससे संबन्ध-विच्छेद हो जाता है। संबंध-विच्छेद होने पर प्रेमी अपने में आनन्दघन प्रेम-पात्र की स्थापना कर अचिन्त हो जाता है। अचिन्तता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों द्रष्टा, दर्शन, दृश्य त्रिपुटी का अभाव होता जाता है। त्रिपुटी का अभाव होते ही प्रेम-पात्र से भिन्न सत्ता शेष नहीं रहती, अर्थात् अभेद-आनन्द पाकर प्रेमी कृतकृत्य हो जाता है। विश्व अपनी एक अवस्था से भिन्न और कुछ मालूम नहीं होता। वियोग का भय शेष नहीं रहता, प्रेम-पात्र का हो जाने पर सभी प्रवृत्तियाँ निवृत्ति में स्वतः विलीन हो जाती हैं, अर्थात् स्वाभाविक निवृत्ति आ जाती है। स्वाभाविक निवृत्ति आने पर प्रेम-पत्र की प्रतीक्षा उत्पन्न होती है। प्रतीक्षा की अग्नि में सभी विकार अपने आप जल जाते हैं, क्योंकि सत्य की आवश्यकता असत्य को खा जाती है।

व्यर्थ चेष्टा न होने पावे, प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के भाव से प्रेम-पात्र के नाते की जावे। अभिनय के अन्त में सावधानी पूर्वक अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करने का प्रयत्न किया जावे। मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिये कोई स्थान नहीं है, सब प्रकार से सद्भाव पूर्वक उनका हो जाने पर भय या चिन्ता शेष नहीं रहती।

× × ×

जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने लगता है, तब सभी दोष अपने आप निवृत्त हो जाते है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। अपने दोष देखने की दृष्टि का उत्पन्न होना भगवान् की विशेष कृपा है। प्रेमी प्रेमी हो जाने पर प्रेमपात्र प्रेमी, और प्रेमी प्रेम-पात्र हो जाता है, यह निःसन्देह सत्य है। साधक को साध्य से कभी निराश न होना चाहिये, क्योंकि प्राणी आवश्यकता की पूर्ति मे और इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतंत्र है। जब प्राणी अकर्त्तव्य को कर्तव्य मान लेता है, तब बेचारा परतन्त्रता के जाल में फॅस जाता है। कर्तव्य पालन करने के लिये लेश-मात्र भी परतन्त्रता नहीं है। परतन्त्रता प्राणी का बनाया हुआ दोष है, जिसे वह स्वतन्त्रता पूर्वक मिटा सकता है। जब प्राणी अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करता है, तब बेचारा परतंत्रता में फॅस जाता है। गहराई से देखिए, संयोग अस्वाभाविक है और वियोग स्वाभाविक है, क्योंकि संयोग प्रयत्न करने पर भी नहीं रहता और वियोग बिना प्रयत्न ही आ जाता है। जो प्राणी संयोग की दासता का त्याग नहीं करता और वियोग को नहीं अपनाता, वह बेचारा नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं नित्य-रस नहीं पाता। वियोग की अग्नि संयोग रूपी लकड़ी को निरन्तर जलाती रहती है। यह नियम है कि जब लकड़ी शेष नहीं रहती, तब अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है। अतः जो विचारशील संयोग में ही वियोग का अनुभव कर लेते हैं, वे वर्तमान मे ही नित्य योग पाकर कृतकृत्य

हो जाते हैं।

× × ×

संयोग दो प्रकार के होते हैं, अभेद-भाव तथा भेद-भाव के, जिस प्रकार "मैं विद्यार्थी हूँ" अथवा "मेरी पुस्तक है"। "मैं" से विद्यार्थीपन का संयोग अभेद-भाव का, तथा पुस्तक से भेद भाव का संयोग प्रकाशित होता है। संयोग-रहित "मैं" या तो प्रेम-पात्र की अभिलाषा है, अथवा प्रेम-पात्र है। अभेद-भाव का संयोग सत्यता, एवं भेद-भाव का संयोग प्रियता उत्पन्न करता है। दोनों प्रकार के संयोगों का वियोग होने पर संयोगजन्य सत्यता तथा प्रियता मिट जाती है। संयोग-जन्य सत्यता तथा प्रियता मिटते ही, प्रेम-पात्र की सत्यता तथा प्रियता बिना ही प्रयत्न आ जाती है। यह भली भाँति समझलो कि अभेद-भाव का संयोग स्वीकार करने पर ही भेद-भाव के संयोग का जन्म होता है, क्योंकि अहन्ता-शून्य ममता नहीं होती।

× × ×

निःसन्देह त्याग कल्पतरु के समान फल अवश्य देता है, परन्तु किसी आवेश में आकर जो त्याग किया जाता है उसका निर्मल फल नहीं होता। स्वाभाविक—अपने आप हो जानेवाला त्याग सर्वोत्कृष्ट त्याग है। स्वाभाविक त्याग आ जाने पर निरभिमानिता, निर्वैरता एवं पवित्र प्रेम स्वयं उत्पन्न हो जाता है। पवित्र प्रेम किसी से किया नहीं जाता। जिस प्रकार सूर्य से स्वतः प्रकाश निकलता है, उसी प्रकार प्रेमी के जीवन से स्वयं प्रेम-रूपी प्रकाश फैलता है

त्याग तथा प्रेम ये दोनों ही एक वस्तु हैं। दृष्टि-भेद से दो प्रकार के प्रतीत होते हैं। इन दोनों का आधार यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान के विना त्याग एवं प्रेम जीवन का स्वरूप नहीं होते। साधारण प्राणी त्याग तथा प्रेम को अभ्यास समझ लेते हैं। अभ्यास बिना कर्त्तापन के भाव के कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक अभ्यास का जन्म किसी न किसी प्रकार की कामना के आधार पर होता है, अतः कामना-युक्त प्राणी बेचारा त्याग तथा प्रेम का आस्वादन नहीं कर पाता।

जिस प्रकार पका हुआ फल अपने आप डाल से छूट जाता है, उसी प्रकार स्वधर्म निष्ठ प्राणी अपने आप राग-द्वेष से छूट जाता है। रागद्वेष-रहित प्राणी सभी स्थानों पर त्याग और प्रेम को पा सकता है, किन्तु राग तथा द्वेप-युक्त प्राणी हिमालय की कन्दरा मे भी त्याग तथा प्रेम को नहीं पाता। त्याग तथा प्रेम के विना प्रेम-पात्र से अभिन्नता कदापि नहीं हो सकती। सभी दोष अपने बनाये हुए है। अपने को प्राणी सदा साथ ही रखता है, अतः अपना सुधार करने पर ही वाह्य-परिस्थिति अनुकूल हो सकती है। अपना सुधार करने के लिये वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग परम अनिवार्य है।

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग वही प्राणी कर सकता है, जो केवल अपनी ओर देखता है। साधारण प्राणियों को दूसरे के कर्तव्य दिखाई देते रहते हैं, परन्तु विचारशील को केवल अपना ही कर्तव्य दिखाई देता है, क्योंकि क्षण-भंगुर परिवर्तन-

शील जीवन में दूसरों के कर्तव्य देखने का अवकाश कहाँ? हाँ, यह परम सत्य है कि कर्तव्य-निष्ठ-प्राणी से स्वाभाविक कर्तव्य-परायणता बिना ही प्रयत्न जन-समाज में फैलती है। देखिये, लकड़ी स्वयं जल कर दूसरों को जलाती है, किसी को जलाना सिखाती नहीं। दूसरों के सुधार एवं सिखाने की बात सीमित गुणों का अभिमान एवं अपनी योग्यता का परिचय देना है। हाँ, जिस प्राणी का हृदय विश्व के दुःख से अपने ही दुःख के समान दुखी है, वह प्राणी ज्यों ज्यों अपनी उन्नति करता जाता है, त्यों त्यों विश्व-सेवा स्वतः उसके जीवन से होती जाती है।

आनन्द-घन-भगवान् सभी प्राणियों की रुचि पूर्ण करते हैं, परन्तु कर्तव्य-निष्ठ होना चाहिये। हमारी निर्बलतायें इसलिये नहीं मिटतीं कि हम सद्भाव पूर्वक प्रार्थना नहीं करते। सद्भाव पूर्वक प्रार्थना इसलिये नहीं कर पाते कि हमको जो योग्यता प्राप्त है, उसका ईमानदारी पूर्वक उपयोग नहीं करते। अपने को बचाकर निर्जीव-यन्त्र की भांति की हुई प्रार्थना उसी प्रकार सार्थक नहीं होती, जिस प्रकार बिना भूख भोजन। कर्तव्य-निष्ठ प्राणी में निर्बलताओं को मिटाने के लिये सद्भाव पूर्वक प्रार्थना अपने आप उत्पन्न होती है और सार्थक भी होती है।

—:०:—

पत्र-पुष्प

जो अपने आप में सन्तुष्ट हैं उनको अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता शेष नहीं रहती, क्योंकि उनमें विश्व तथा विश्वनाथ नित्य निरन्तर अविचल भाव से निवास करते हैं।

अभेद-भाव का भक्त सर्व अवस्थाओं से अतीत होकर नित्य जागृति का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

जिस भक्त को वियोग का भय लेश मात्र भी नहीं होता, अर्थात् वियोग ही जिसका जीवन है, उसको नित्य योग प्राप्त होना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जो संयोग में ही वियोग का अनुभव कर लेता है, उसका नित्य योग होना परम अनिवार्य है।

नित्य योग के बिना चैन से न रहना यही परम पुरुषार्थ है। जो कर सकते हो कर डालो; उससे ही आपको सब कुछ मिल जावेगा।

× × ×

शरीर एक यन्त्र मात्र है। जो प्राणी अपनी अहंता से उसे पकड़ लेते हैं, उन बेचारों को शरीर की योग्यता, अयोग्यता, सबलता एवं निर्बलता आदि गुण दोष बांध लेते हैं, परन्तु जिन्होंने शरीर को जिसका है (अनन्त शक्ति) उसको दे दिया

है, उनके ऊपर से तो शरीर का बोझ उतर जाता है; उनको तो शरीर जल में बहते हुए फूल के समान प्रतीत होता है। उसकी पूर्ति तथा अपूर्ति समान अर्थ रखती है। बन्धन का कारण वही संकल्प होता है जिसका जन्म किसी न किसी प्रकार के राग-द्वेष से हुआ हो। काम का भय उन प्राणियों को होता है, जिनको करने का अभिमान होता है, तथा जिनको अपनी सीमित शक्तियों पर विश्वास होता है।

अभिमान रहित होते ही सभी यन्त्र शक्तिशाली एवं निर्दोष हो जाते हैं। अभिमान युक्त बड़े से बड़ा गुण भी दोष के समान होता है। निर्बलताओं का चिन्तन उसको करना चाहिये जिसमें कुछ बल हो। जिसका सारा बल समाप्त हो चुका हो उसको अपनी निर्बलताओं के चिन्तन करने का अधिकार कब है? यदि हम उनके होकर भी निर्बलताओं का चिन्तन करते हैं, तो हम उनके प्रभाव को नहीं जानते। उनका हो जाने पर निर्बलता भी महान् बल है और उनके बिना हुए महान् बल भी परम निर्बलता है। जिस प्रकार नदी का कोमल जल बड़ी से बड़ी पहाड़ियों से टकराकर स्वतन्त्रता पूर्वक अपने प्रेम पात्र समुद्र से मिल जाता है, उसी प्रकार निर्बल से निर्बल भी उनका होकर, बड़ी से बड़ी समस्याओं से पार होकर, उनसे अभेद हो जाता है। जिसमें अनन्त गुण हों, भला क्या कोई भी प्राणी उसे गुणों से खरीद सकता है? कदापि नहीं। महाघोर मोह-रूपी समुद्र से क्या कोई भी प्राणी अपने बल से पार हो सकता

है ? कदापि नहीं। उनका होकर ही उन्हें पा सकता है और उनकी कृपामात्र से ही अनन्त संसार से पार हो सकता है। अतः निरन्तर अपने सद्भाव का आदर एवं उनके पवित्र प्यार की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

× × ×

भक्त जिस काम को नहीं कर सकता है, भगवान् उसको वह काम नहीं देते हैं। मानसिक दुर्बलता के लिये भक्त के जीवन मे कोई स्थान नहीं है। भक्त सर्वदा अचिन्त तथा अभय रहता है, और जो सेवा अपने आप सामने आती है, उसको यथा-शक्ति पूरा कर अचिन्त हो जाता है। भक्त पर सुख, दुख तथा चिन्ता आदि का शासन नहीं होता।

× × ×

ज्ञान तथा क्रिया का विभाग होते ही निज स्वरूप का अनुभव होता है। क्रिया को देखने पर ज्ञान तथा क्रिया का विभाग हो जाता है। शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि अनन्त संसार में केवल क्रिया ही प्रतीत होती है। जिसमें क्रिया होती है, वह क्रिया को देख नहीं सकता, क्योंकि क्रिया से क्रिया देखी नहीं जा सकती। क्रिया को तो क्रिया से अतीत स्वयं प्रकाश-सत्ता देख सकती है, क्योंकि जिसमें क्रिया किसी काल मे भी नहीं है, जो स्वयं अपने आप को प्रकाशित कर रहा है, उससे अभेदता होने पर ही नित्य जागृति हो सकती है। नित्य जागृति होने पर ही अवस्था भेद मिट सकता है।

हाथ, पैर अर्थात् कर्मेन्द्रियों की क्रिया, नेत्र अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखने में आती है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया को मन के द्वारा देख पाते हैं, और मन की क्रिया को बुद्धि के द्वारा देख लेते हैं, तथा बुद्धि की क्रिया, सम अवस्था को जिसके द्वारा अनुभव करते हो वह स्वयं-प्रकाश आप का निज-स्वरूप है। उसमे उसी प्रकार से एक ही भाव में स्थित रहना परम पुरुषार्थ है। जिस प्रकार एक ब्राह्मण "मैं ब्राह्मण हूँ", इस भाव में स्थित रहता है।

अभेद्-भाव का संबंध होने पर वियोग शेष नहीं रहता। प्रत्येक प्राणी अभेद्भाव का तथा भेद्-भाव का किसी न किसी से सम्बन्ध करता है, जैसे "मैं ब्राह्मण हूँ" यह अभेद्-भाव का सम्बन्ध तथा ''यह शरीर एवं यह बालक मेरा है'' यह भेद्भाव का संबंध है। जिससे अभेद्-भाव का संबंध होता है, उसकी स्वीकृति तथा स्थिति बिना ही प्रयत्न बनी रहती है, अर्थात् एक बार की हुई स्वीकृति उस समय तक जीवित रहती है, जब तक अस्वीकृति न की जावे, परन्तु भेद्-भाव का संबंध जीवित रखने के लिये किसी न किसी प्रकार का प्रयत्न करना अनिवार्य है। इसी कारण भेद्-भाव के प्रेमियों को वियोग एवं मिलन का भाव होता है, अर्थात् भाव का भेद अभेद नहीं होने देता।

माने हुए भेद्-भाव के संबंध के मिटने पर संसार की ओर से आनेवाला दुःख और सुख मिट जाता है, तथा माने हुए अभेद्-भाव के संबंध के मिटते ही मानी हुई सीमित अहन्ता

अर्थात् सीमित अहं-भाव (Limited Personality) मिट जाता है। सीमित अहन्ता मिटते ही किसी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती। ज्यों ज्यों निर्वासना स्थायी होती जाती है त्यों त्यों स्वरूप-स्थिति दृढ़ होती जाती है। ज्यों ज्यों स्वरूप-स्थिति दृढ़ होती जाती है, त्यों त्यों दृश्य एवं क्रिया का अभाव होता जाता है। ज्यों ज्यों क्रिया का अभाव होता जाता है, त्यों त्यों तत्त्व-ज्ञान-पूर्वक तत्त्व-निष्ठा स्थायी होती जाती है। ज्यों ज्यों तत्त्व ज्ञान पूर्वक तत्त्व-निष्ठा स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों शक्ति तथा शान्ति का विकास होता जाता।

माना हुआ "मैं" तथा माना हुआ "मेरा" मिटने पर ही तत्त्व-ज्ञान हो सकता है। भक्त तथा जिज्ञासु दोनों में ही माना हुआ "मैं" तथा माना हुआ "मेरा" शेष नहीं रहता। पूर्ण जिज्ञासा जाग्रत होने पर तत्त्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है, अत. जिज्ञासु को पलमात्र के लिये भी तत्त्व-ज्ञान के बिना सन्तोष नहीं करना चाहिये, क्योंकि वास्तविक सन्तोष तो तत्त्व-निष्ठ होने पर ही हो सकता है। बनावटी संतोष का अन्त करना अनिवार्य है। परम भक्त वही है, जो प्रेम पात्र से विभक्त नहीं होता। बनावटी सन्तोष जिज्ञासुओं को ज्ञान नहीं होने देता और प्रेमियों को प्रेम पात्र से मिलने नहीं देता। अतः बनावटी सन्तोष को जीवित नहीं रखना चाहिये।

भविष्य की आशा बनावटी सन्तोष को जीवित रखती है। भविष्य की आशा वही प्राणी करता है, जिसका हृदय पूर्ण

दुखी नहीं हुआ। उस अभागे सुख का अन्त कर दो, जो पूर्ण दुखी नहीं होने देता। जिसको लेशमात्र भी सुख नहीं रहता, वह प्राणी संसार का वमन के समान त्याग कर देता है। यद्यपि बेचारा प्राणी आप दुखी ही बना रहता है, परन्तु अपना मूल्य घटा कर बनावटी सुख से बनावटी संतोष कर लेता है। जो अपना मूल्य नहीं घटाता है, उसको संसार सुख नहीं दे पाता। अपने लिये अपने से भिन्न की खोज करना ही अपना मूल्य घटा देना है। जो अपने लिए अपने से भिन्न की खोज नहीं करता, उसमें विश्व तथा विश्वनाथ दोनों ही निवास करते हैं।

× × ×

जिस प्रकार वृक्ष का मूल कट जाने पर भी वृक्ष कुछ काल तक हरा बना रहता है, उसी प्रकार मानी हुई अहन्ता मिट जाने पर भी केवल अभिनय (Acting) के स्वरूप में अपने आप सामने आती है और अपना पार्ट दिखा कर स्वयं विलीन हो जाती है, और निज-स्वरूप स्वयं अपने आप को अपनी महिमा में स्थित पाता है।

सभी प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं। क्रिया-रूप-प्रवृत्ति, चिन्तन-रूप-प्रवृत्ति; एवं स्थिति-रूप-प्रवृत्ति। क्रिया-रूप प्रवृत्ति में तीनों शरीर काम करते हैं, चिन्तन-रूप-प्रवृत्ति में दो शरीर काम करते हैं तथा स्थिति-रूप-प्रवृत्ति में एक शरीर काम करता है, अथवा यों कहो कि क्रिया-रूप-प्रवृत्ति में स्थूल

शरीर की प्रधानता होती है, चिन्तन-रूप-प्रवृत्ति में सूक्ष्म शरीर की प्रधानता होती है और स्थिति-रूप प्रवृत्ति में कारण शरीर की प्रधानता होती है। निज-स्वरूप का बोध होने पर तीनों प्रकार के शरीरों से असंगता हो जाती है। असंगता होने पर शरीर निर्जीव होकर विश्व का (Universal) हो जाता है, अर्थात् विश्व की क्रिया-शक्ति से शरीर क्रिया करता है, अर्थात् अहन्ता से उत्पन्न होनेवाली क्रिया का अन्त हो जाता है। जो क्रिया अहं-भाव से उत्पन्न नहीं होती, उस क्रिया का रस अंकित नहीं होता। जिस क्रिया का रस अंकित नहीं होता, उसकी वासना नहीं बनती अर्थात् प्राकृतिक विधान (Natural Law) से क्रिया हो जाने पर भी निर्वासना ही शेष रहती है। निर्वासना होने पर चिन्तन-रूप-प्रवृत्ति शेष नहीं रहती अर्थात् क्रिया रूप-प्रवृत्ति एवं स्थिति-रूप-प्रवृत्ति अभिनय (Acting) के रूप में जीवित रहती है। स्थिति-रूप-प्रवृत्ति में प्रसन्नता प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों उस प्रसन्नता से असंगता होती जाती है, त्यों त्यों स्वरूप-निष्ठा बढ़ती जाती है, परन्तु यदि प्रसन्नता का उपभोग कर लिया जावे तो प्रसन्नता व्याकुलता का स्वरूप धारण कर लेती है। असह्य व्याकुलता बढ़ जाने पर पुनः स्थिति प्राप्त होने पर प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है। तत्त्ववेत्ता को स्थिति-रूप प्रसन्नता भी अभिनय (Acting) मालूम होती है, जीवन नहीं, क्योंकि जीवन नित्य है और स्थिति अनित्य है; यद्यपि स्थिति का रस सब प्रकार की प्रवृत्तियों से विशेष मूल्य की वस्तु है,

किन्तु निवृत्ति एवं नित्य-जीवन की अपेक्षा कुछ अर्थ नहीं रखता। नित्य जीवन स्थिति से असंग होने पर आता है, फिर जाता नहीं। आना जाना प्रवृत्तियों के रस में ही होता है जो एक प्रकार का राग (Attachment) है। राग यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता। जब त्याग राग को खा लेता है, तब स्वयं यथार्थ ज्ञान हो जाता है। समझ बेचारी तो स्थिति से आगे नहीं जाती। स्थिति से आगे आप समझ को छोड़कर जा सकते हैं। स्थिति का रस विरह उत्पन्न करता है, इसी कारण व्याकुलता बढ़ रही है। यह अवस्था संसार के सभी रसों से श्रेष्ठ है, परन्तु नित्य जीवन से अभेद नहीं होने देती, प्रत्युत समीपत्व करती है। सीमित अहंभाव (Limited personality) स्थिति के रस से भी जीवित रहता है। अधिक काल तक स्थिति का रस-पान करने पर स्थिति के त्याग करने की शक्ति आ जाती है। जिस प्रकार व्याकुलता स्थिति उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार स्थिति स्वयं त्याग उत्पन्न कर देती है, क्योंकि स्थिति की पूर्णता स्थिति नहीं हो सकती। सभी अवस्थायें अपूर्ण दशा में शेष रहती हैं। पूर्ण व्याकुलता, व्याकुलता नहीं रहती और पूर्ण स्थिति स्थिति नहीं रहती। आप का पवित्र हृदय कोमल है, अतः प्रेम-पात्र का प्रेम सहन नहीं कर पाता, इस कारण अश्रु-धारा होने लगती है। आप तथा आप का हृदय धन्य है।

मानी हुई अहन्ता की अस्वीकृति तो प्रयत्न है, परन्तु निज-स्वरूप की स्वीकृति प्रमाद अर्थात् भूल है, क्योंकि "है" की

क्रिया-रूप स्वीकृति नहीं होती, "है" का अनुभव होता है। अनुभव एकता होने पर होता है। स्वीकृति स्थिति उत्पन्न करती है, अनुभव नहीं। अस्वीकृति अग्नि के समान है, जो माना हुई अहन्ता रूप लकड़ी को जलाती है। लकड़ी जल जाने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, अर्थात् मानी हुई अहन्ता शेष न रहने पर निज-स्वरूप का अनुभव होता है, स्वीकृति नहीं। स्थिति अवस्था है, जो शक्तियों के विकास में समर्थ है। निज-स्वरूप ज्ञान है, जो शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। शक्ति तथा शान्ति आने पर ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। शान्ति आ जाने पर शक्ति अपने आप आ जाती है। शक्ति तथा शान्ति आप के निज-स्वरूप की दो पतिव्रता पत्नियाँ हैं। आप पुरुष हैं केवल उनकी पूर्ति के लिये उनकी ओर देखिये, अपने लिये नहीं। शक्ति तथा शान्ति अपने आप आनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं। क्रिया-रूप प्रवृत्ति प्राकृतिक विधान (Natural law) से होकर अपने आप मिट जायगी, आप निश्चिन्त रहिये।

× × ×

अपने निज-स्वरूप में अचलता का बोध 'ज्ञान' है। 'ज्ञान' घटता बढ़ता तथा मिटता नहीं, 'ज्ञान' की निष्ठा घटती बढ़ती है। मंजन करते समय की दशा उस परम पवित्र 'ज्ञान' की निष्ठा थी। शरीर में चिपकी हुई वृत्तियाँ ज्यों ज्यों असंग होती जाती हैं, त्यों त्यों निष्ठा सुदृढ़ होती जाती। निष्ठा के सुदृढ़ होने से प्रसन्नता बढ़ती जाती है, परन्तु यदि उस प्रसन्नता का

उपभोग कर लिया जाये तो प्रसन्नता का बढ़ना बन्द हो जाता है। जब प्रसन्नता नहीं रहती, तब उसके स्मरण-चिन्तन का रस शेष रहता है।

विचारशील को न तो प्रसन्नता का उपभोग करना चाहिये और न उसके मिट जाने पर उसकी चिन्ता करनी चाहिये। ज्यों ज्यों अचिन्तता (किसी प्रकार के चिन्तन का न रहना) बढ़ती जायगी, त्यों त्यों शरीर-भाव एवं शरीर में चिपकी हुई वृत्तियाँ आनन्दघन स्वयं-प्रकाश निज-स्वरूप में विलीन होती जायँगी। मेरे नाथ, सब प्रकार के चिन्तन का अंत कर निश्चिन्त हो जाओ। भला जो आप का निज स्वरूप है, वह आप से भिन्न कैसे हो सकता है? कदापि नहीं।

अपने को ढूंढ़ने का प्रयत्न करना अपने से दूर होना है। प्रसन्नता का उपभोग करना प्रसन्नता से भिन्नता स्थापित करना है।

"अपने" को ढूंढ़ना तब तक ही शोभा देता है, जब तक अपने अविचल स्वयं-प्रकाश निज स्वरूप का बोध नहीं होता, अथवा यों कहो कि जब तक शरीर से असंगता नहीं होती। शरीर से असंग होने पर ढूंढ़ने का प्रयत्न शेष नहीं रहता।

"अपने आप" में स्थिति सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, जो सर्व वासनाओं का अन्त होने पर एवं अचिन्त रहने से स्वयं हो जाती है। मेरे नाथ, "अपने आप" को किसी भी अवस्था में मत बाँधो, क्योंकि आप का निज-स्वरूप सब अवस्थाओं से अतीत है।

अतः आपको "अपने" में अभेद भाव से निरन्तर निवास करने के लिये "अपने" को सर्व अवस्थाओं से अतीत करना है। मेरे नाथ, सारा विश्व तो 'आप में' डुबकी लगाता है; भला बताओ तो सही आप 'अपने' से भिन्न किसमें डुबकी लगायेंगे? सभी से असंग होने पर 'अपने आप' में स्थिति स्वतः हो जाती है।

× × ×

सब प्रकार के चिन्तन का त्याग आपने ठीक समझा है, क्योंकि अचिन्त वही हो सकता है, जो अपने प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न नहीं पाता है। अचिन्तता अभ्यास नहीं है, प्रत्युत वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग का फल है। जो करना चाहिये तथा जो कर सकते हैं, उसके कर डालने पर अचिन्तता अपने आप आ जाती है।

अचिन्त होते ही क्रिया-शक्ति तथा भाव-शक्ति अपने निज-स्वरूप में स्वतः विलीन हो जाती है। निज स्वरूप का बोध किसी अभ्यास का फल नहीं है, वह तो सर्वत्याग होने पर अपने आप हो जाता है। अचिन्त होने पर क्रिया तथा ज्ञान का विभाग हो जाता है। क्रिया तथा ज्ञान का विभाग हो जाने पर, ज्ञान-स्वरूप नित्य सत्ता अपने से भिन्न नहीं रहती। अचिन्त होने पर शरीर की सभी अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से सम्बन्ध-विच्छेद होकर नित्य-जागृति प्राप्त होती है। अभ्यास, भविष्य मे फल देता है, त्याग, वर्तमान में फल देता है। ज्ञान

के अनुरूप जीवन होने पर अनेक शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान न तो घटता बढ़ता है और न कभी मिटता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की सत्ता शेष नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञान होने पर जगत् की सत्ता शेष नहीं रहती। जब तक अभ्यास की रुचि शेष है, तब तक अभ्यास अवश्य करो, किन्तु अभ्यास स्वाभाविक होना चाहिये। किसी विशेष तैयारी के साथ किया हुआ अभ्यास 'जीवन' का अंग हो जाता है, 'स्वरूप' नहीं। स्वाभाविक अभ्यास 'जीवन' हो जाता है।

मेरे नाथ, आपका शरीर परम पवित्र है, उस पर अत्याचार मत करो। जिस रहन-सहन से शारीरिक हित हो, उसके साथ वही करो। आप तथा आपका शरीर आराम चाहता है, काम नहीं। काम का अन्त होने पर राम से भिन्न कुछ नहीं रहता। शरीर को वही खिलाओ, जिससे उसका हित हो। उस परम पवित्र शरीर पर कोई विशेष प्रतिबन्ध मत लगाओ। यथेष्ट विश्राम स्वास्थ्य-सुधार के लिये परम औषधि है। काम का अन्त वास्तविक विश्राम (निर्वासना) होने पर होता है। जो अपने में ही पूर्ण सन्तुष्ट है, उसके यहाँ काम नहीं रहता। प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है, अतः किसी नवीन परिस्थिति की इच्छा करना भूल है। दौड़ने की प्रवृत्ति अधिक की गई, इसलिये विश्राम की रुचि उत्पन्न हुई है। वर्त्तमान परिस्थिति का सदुपयोग होने पर क्रिया-शक्ति तथा भाव-शक्ति दोनों अत्यन्त घोर व्याकुलता, सीमित अहंभाव को सदा

के लिये मिटा देती है। बस उसी काल में नित्य जीवन से भिन्न कुछ भी और शेष नहीं रहता। जो स्वाभाविक रुचि हो, वही करो, अब बेचारे शरीर पर अस्वाभाविक जोर मत डालो। वह परम पवित्र शरीर विश्व-सेवा के हित के लिये है, आपके लिये नहीं। आप उससे असंग हो जाओ और उसको विश्व-सेवा के लिये सुरक्षित रख दो।

× × ×

विचार के अनुरूप जीवन होना ही तत्त्व निष्ठा है। स्वरूप-ज्ञान होने पर निर्वासना एवं नित्य-जागृति आ जाती है। विचार का आदर करने से अनुभव स्वयं हो जाता है। अनुभव के लिये किसी की साक्षी की आवश्यकता नहीं होती।

यद्यपि ज्ञान तो सर्वकाल में ज्ञान है, परन्तु ज्ञान के अनुरूप निष्ठा ही ज्ञान की सार्थकता है।

× × ×

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग होने पर स्वाभाविक विषय-निवृत्ति हो जाती है। सर्व विषयों की निवृत्ति होने पर अचिन्तता अर्थात् ब्रह्म-स्थिति हो जाती है, ज्ञान-योग की दृष्टि से उसे स्वरूप-स्थिति भी कह सकते हैं। केवल शब्द-भेद है अर्थ-भेद नहीं।

निज-स्वरूप में कोई भी परिस्थिति नहीं है। सभी परिस्थितियों का जन्म केवल मानी हुई अहन्ता से होता है। निज-स्वरूप तो उसको अपनी सत्ता से प्रकाशित करता है, क्योंकि वास्तव में परिस्थिति की सत्ता कुछ नहीं है, वह तो केवल

प्रतीति-मात्र है। यदि परिस्थिति बेचारी की सत्ता होती, तो मिट नहीं सकती थी। प्रत्येक प्रवृत्ति मानी हुई अहन्ता से उत्पन्न होती है। यदि प्रवृत्ति के पूर्ण होने पर मानी हुई अहन्ता को स्वीकार नहीं किया जावे, तो प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन होकर अचिन्तता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अचिन्तता अभ्यास नहीं। अपने आप आई हुई परिस्थिति को उसी प्रकार पूर्ण करो, जिस प्रकार ब्राह्मण थियेटर की कम्पनी में मेहतर का अभिनय (Part) पूरा करता है। अभिनय-कर्त्ता अभिनय करने में किसी प्रकार की कमी नहीं करता, किन्तु उस अभिनय को 'अपना आप' कभी नहीं मानता अर्थात् सर्वकाल में अपने को उस अभिनय से भिन्न जानता है। भिन्नता का बोध ज्ञान है। पार्ट समाप्त होते ही परम पवित्र ज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही अचिन्तता है, जो मानी हुई अहन्ता का अन्त करने पर हो सकती है। मानी हुई अहन्ता का भास होना ही चिपकी हुई वृत्तियों का अर्थ है। अभिनय करने में भी आसक्ति हो सकती है। अतः जिस प्रवृत्ति के बिना किसी भी प्रकार न रह सको उस प्रवृत्ति को अभिनय के भाव से पवित्रता पूर्वक कर देना और प्रवृत्ति समाप्त होते ही उसका अभाव समझना, अर्थात् उस अभिनय की सत्ता को स्वीकार न करना, यही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग है।

मानी हुई अहन्ता के प्रभाव से जो अभिनय आपके सामने आता है बस यही संसार है। जो विचारशील किसी भी

अभिनय को निमन्त्रण देकर नहीं बुलाता, उसके सामने सभी अभिनय अपने आप हो हो कर समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार मछलियों के उछलने कूदने से समुद्र को खेद नहीं होता, उसी प्रकार नित्य-जीवन का अनुभव होने पर किसी भी घटना से हर्ष-शोक नहीं होता। परिस्थिति 'जीवन' नहीं है, बल्कि पूर्व आसक्ति का फल है, अथवा प्राकृतिक न्याय है। 'जीवन' वह है, जो परिस्थिति को प्रकाशित करता है, अथवा परिस्थिति के न रहने पर जो स्वयं शेष रहता है, वही आपका 'निज-स्वरूप' है। कोई भी प्राणी 'अपने आपको' ढूंढ नहीं सकता, क्योंकि जो 'है' उसको यदि ढूंढा जावे तो उससे दूर हो जाता है, इसी कारण 'सत्य' किसी भी क्रिया से प्राप्त नहीं होता।

जो 'नहीं' है, उसको कोई नहीं पा सकता; अतः परिस्थिति 'नहीं' है, इसलिये उसको पकड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है। नित्य-जीवन सर्वकाल में 'है', अतः उसको ढूंढने का प्रयत्न व्यर्थ है। जो विचार शील परिस्थिति को पकड़ता नहीं और नित्य-जीवन को ढूंढता नहीं, वह अपने में ही विश्व तथा विश्वनाथ को पाकर पूर्ण हो जाता है।

अपने अनुभव पर संदेह मत करो; आप सब ठीक समझ लेते हैं। यह ध्यान रहे कि अनुभूति का निरादर न होने पावे, क्योंकि ज्ञान का आदर करने से ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है।

× × ×

शारीरिक निर्बलता का भय मत करो, प्रत्युत शरीर की

वास्तविकता देखो। यदि निर्बलता आने पर शरीर का यथार्थ ज्ञान हो जावे, तो निर्बलता का आना सार्थक हो जावेगा, अर्थात् उससे सबलता की अपेक्षा विशेष हित होगा। रोग का भय परम रोग है, और यदि हृदय में रोग का भय न रहे, तो बेचारा रोग निर्जीव हो जाता है। कुछ लोग शरीर के साथ अन्याय करते हैं, क्योंकि उससे काम तो अधिक लेते हैं और उस बेचारे को आराम नहीं देते हैं। ऐसी अवस्था में 'रोग-भगवान' शरीर को आराम देने के लिये कृपा करते हैं। कभी कभी जब प्राणी प्रमाद-वश विश्व-नाथ की वस्तु को अपनी समझने लगता है, तब उसकी आसक्ति मिटाने के लिये 'रोग भगवान्' आते हैं। शरीर विश्व की वस्तु है और विश्व विश्वनाथ का है, उसको अपना मत समझो। आप शरीर से अभेद होकर यह लिखती हैं कि "मैं निर्बल हो गयी हूँ, उठ बैठ नहीं सकती"। शरीर से अभेद-भाव मान लेना एक मात्र प्रमाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो दुःख का मूल है। विचार-पूर्वक शरीर से असंग होकर अपने ही में अपने प्रेम-पात्र का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ।

× × ×

सब प्रकार के चिन्तन का त्याग करने पर 'योग', वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर 'घोर व्याकुलता' उत्पन्न होती है और पूर्ण व्याकुलता होने पर नित्य-जीवन का अनुभव होता है। किसी अप्राप्त परिस्थिति की इच्छा करना भूल है, प्रत्युत जो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर लेता है, उस पर परिस्थिति

का शासन नहीं रहता। वह तो अपने लक्ष्य की ओर अत्यन्त तीव्र गति से दौड़ता है। नित्य-जीवन सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अतीत है, अतः उसके लिये किसी भी परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् सभी परिस्थितियों से अतीत होना चाहिये।

प्रतिकूलता का भय एवं अनुकूलता की आशा महान् निर्बलता है। भय तथा आशा का त्याग करते ही परम बल अपने आप आ जाता है, क्योंकि जो हमारा है, वह हमारा त्याग नहीं कर सकता है। निर्बलताओं की सत्ता स्वीकार करने पर निर्बलता जीवित रहती है, अतः निर्बलता की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिये।

नित्य-जीवन की आवश्यकता होना ही नित्य-जीवन प्राप्त होने का सर्वोत्कृष्ट साधन है, क्योंकि आवश्यकता सभी अस्वाभाविक इच्छाओं को खाकर नित्य-जीवन से अभेद कर देती है।

× × ×

कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है, क्योंकि कमी का अनुभव करना और उसके मिटाने का प्रयत्न करना यही मनुष्यता है। मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं है। दुःख से कमी का अनुभव होता है और कमी का अनुभव होने पर दुःख होता है। इन दोनों का स्वरूप एक है। दुःख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है। दुःख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। दुःख सब प्रकार के विकारों को मिटा कर

अन्त में अपने आप मिट जाता है। दुःख मिटते ही आनन्द का अनुभव होता है। जिस प्रकार अग्नि उसी समय तक जलती है, जब तक उसे जलाने के लिये लकड़ी आदि कुछ रहती है, उसी प्रकार दुःख उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक किसी प्रकार के विकार शेष रहते हैं, अर्थात् जो करना चाहिये, नहीं करते; क्योंकि जो जरना चाहिये उसके करने से सब प्रकार के विकारो का अंत हो जाता है। कर्त्ता स्वयं अपने कर्त्तव्य का ज्ञान सद्भाव-पूर्वक आवश्यकता होने पर कर सकता है। जो दुःख से डरता है, वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि दुखियों के आधार पर ही सुखियों के सुख, उन्नतिशीलों की उन्नति, विचारशीलों का विचार, विज्ञानियों का विज्ञान, प्रेमियों का प्रेम और योगियों का योग जीवित है, अर्थात् ऐसा कोई विकास नहीं है, जिसका जन्म दुःख से न हो। दुखो को दुःख उस समय तक नहीं भूलना चाहिये, जब तक दुखी स्वयं मिट कर आनन्द में न मिल जावे। दुःख संसार की सहायता से मिट नहीं सकता। सत्य की खोज करनेवाले को भूतकाल याद नहीं आता, वर्तमान में कल नहीं पड़ती और भविष्य की आशा नहीं होती। जिस प्रकार नींद की अधिक आवश्यकता बढ़ जाने पर नींद का अभिलाषी विना किसी और की सहायता के स्वयं सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाने पर सत्य का अभिलाषी विना किसी और की सहायता के स्वयं सत्य का

अनुभव कर लेता है और यह नहीं जान पाता कि किस काल में सत्य का अनुभव हो गया।

× × ×

१. कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान होने पर गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

२. सब प्रकार की क्रियाओं का अभाव होने पर कर्त्ता का भी अन्त हो जाता है।

३. जो करना चाहिये उसके करने से 'करने' का अन्त हो जाता है।

४. सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान हैं, क्योंकि सुख रूप बीज से ही दुःख रूप वृक्ष हरा-भरा होता है।

५. किसी का न होना किसी का होना हो जाता है।

६. जिसको संयोग में वियोग मालूम होता है, उसको ही सुख में दुःख दिखाई देता है। जिसको संयोग मे वियोग नहीं दिखाई देता उसको सुख मे दुःख नहीं दिखाई देता।

७. जिस प्रकार गोल चक्र मे घूमनेवाला कभी अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार बार बार एक ही प्रकार की क्रिया करने-वाला कभी 'करने' का अंत नहीं पाता।

× × ×

क्या कभी आपने 'अपने' का निरीक्षण किया और यह जाना कि आप क्या चाहते हैं ? जो चाहते है, उसकी पूर्ति

किस प्रकार हो सकती है? इन परमावश्यक समस्याओं को बिना हल किये क्या किसी प्रकार शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। जो आप चाहते हैं वही आपका प्रेम-पात्र है। प्रेम-पात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जात है। ज्ञान होते ही संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। वह कौन है, जिसके बिना आप किसी प्रकार नहीं रह सकते? जब तक उसको न जान लो, चैन से न रहो। यद्यपि उसको बिना जाने किसी को भी चैन नहीं मिलता, परन्तु फिर भी उसके लिये व्याकुल होना आवश्यक है, क्योंकि दुःख में सुख का भाव हो जाने से जीवन में एक अजीब कंगलापन तथा झूठा सतोष आगया है, जिससे सद्भाव-पूर्वक स्थायी व्याकुलता नहीं होने पाती। व्याकुलता के बिना किसी प्रकार भी आप अपने अभीष्ट को नहीं पा सकते।

× × ×

आवश्यक काम वही है, जिसके करने से 'करने' का अन्त हो जावे। अपनी प्रत्येक क्रिया को विचार पूर्वक देखो और इसकी खोज करो कि सब के अन्त में क्या करना है। जो अन्त में करना है, उसको भविष्य की आशा पर न छोड़ो। यदि उसको भविष्य की आशा पर छोड़ोगे और बार बार उन्हीं क्रियाओं को करोगे, तो वही दशा होगी जो गोल चक्र में घूमने वाले की होती है।

× × ×

काम जमा रखने का अर्थ यही है कि कर्ता को यह भाव रहता है कि अभी कुछ 'करना' है, परन्तु शरणागत हो जाने पर 'करने' के भाव का अन्त हो जाता है, और यह ज्ञात होता है कि अब कुछ भी 'करना' शेष नहीं है। 'करने' का भाव अहंकार को मिटने नहीं देता। जब तक किसी प्रकार की याद रहती है, तब तक 'रहने' का भाव रहता है। प्रेम-पात्र से मिलने की चाह और सभी चाहों को मिटाकर उत्पन्न होती है। उनसे मिलने की चाह अग्नि के समान है, जो और सब चाहों को जला देती है। उस चाह की पूर्ति उनकी कृपा पर निर्भर है। अपना काम उसी समय समाप्त हो जाता है, जब और किसी प्रकार की चाह नहीं रहती। विषयों की चाह मिटने पर विषयों के चिन्तन का अन्त हो जाता है और फिर अचिन्त्य अद्भुत आनन्द का खजाना मिल जाता है। किसी प्रकार का चिन्तन न करना अन्तिम साधन है। विरह का भाव यद्यपि और सभी भावों से श्रेष्ठ है, किन्तु प्रेम-पात्र से अभेद नहीं होने देता। किसी प्रकार की दूरी रखना प्रेम का अधूरापन है, क्योंकि विरह में भी एक प्रकार का रस होता है। उस रस को विचार रूपी अग्नि से मिटाओ, अर्थात् 'अपने' को समर्पण कर दो। सच्चे प्रेमी को किसी प्रकार का भय नहीं होता, क्योंकि भय संसार से सम्बन्ध करने पर उत्पन्न होता है, इसलिये आपको सर्वदा अभय रहना चाहिये।

बाहरी क्रियाओं की कौन कहे, मन इन्द्रिय आदि की क्रियाएँ

भी 'अपने' से भिन्न स्वाभाविक होती दिखलाई देती हैं। यह अवस्था काम जमा न रखने से अपने आप हो जाती है।

× × ×

शरीर कैसा ? जैसे सारा संसार। सेवा करनेवालों की प्रसन्नता के लिये, अर्थात् सेवा करनेवालों की रुचि की पूर्ति के लिये आनन्दघन भगवान् रोग के स्वरूप मे प्रगट होते हैं, क्योंकि प्रायः यही देखने में आता है कि जब कोई सेवा करनेवाला नहीं होता तब रोग नहीं होता। सभी प्राणी अपनी सद्भाव-पूर्वक की हुई अभिलाषाओं के पूर्ण करने में सर्वदा समर्थ हैं। इस सिद्धान्त में लेशमात्र सन्देह करना परम भूल है। जिसमें पूर्ण करने की शक्ति नहीं होती, उसमें अभिलाषा करने की शक्ति नहीं होती। 'करने' की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्धावस्था प्राप्त होती है, क्योंकि कुछ न 'करने के लिये ही सब कुछ किया जाता है। क्रिया उसी में नहीं होती जो सबसे 'बड़ा है।

दुःख के मिटने की अभिलाषा तथा आनन्द के पाने की अभिलाषा तो सभी प्राणियों में स्वाभाविक होती है। यदि दुःख मिट न सकता तो उसके मिटाने की अभिलाषा उत्पन्न ही न होती। अतः दुःख मिटाने के साधन दुखी में अवश्य विद्यमान हैं, क्योंकि कर्ता में जिस अभिलाषा के साधन नहीं होते, वह अभिलाषा कभी नहीं होती। विचार-दृष्टि से देखो कि वाइसराय होने की आप के मन में कभी अभिलाषा नहीं हुई, परन्तु

आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा सर्वदा से है, क्योंकि आनन्द आपकी सर्वदा प्रतीक्षा करता रहता है। जो एक बार उसकी ओर देखता है, बस उसी काल में वह आनन्द से अभिन्न हो जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जिसको देखना आता है, वह अपनी रुचि के अनुसार 'इधर' से विमुख होकर 'उधर' देख सकता है, अर्थात् जो दुनिया की ओर देख सकता है, वह उनकी ओर देख सकता है। जो राग-द्वेप कर सकता है, वह त्याग प्रेम भी अवश्य कर सकता है। अपने कर्तव्य-पालन करने के लिये प्रत्येक कर्त्ता सर्वदा समर्थ है। कर्तव्य-पालन करने पर कर्ता को आनन्द, जो उसकी वास्तविक अभिलाषा है, पूर्ण हो जाना चाहिये। जब तक कोई भी अपने से बड़ा तथा छोटा दिखाई देता है, तब तक हृदय मे दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलती रहती है, यही सुख तथा दुःख का स्वरूप है। दुःख सुख को मिटाने के लिये उत्पन्न होता है। यही प्यारे की परम कृपा है, क्योंकि सुख-दुःख मिटने पर ही आनन्द की अनुभूति होती है।

भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में सदैव निवास करते हैं।

× × ×

कब कहां रहना होगा कुछ पता नहीं। जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को अपनी इच्छा के अनुसार जहां चाहती है, रख देती है, उसी प्रकार जीवन-यात्रा प्रेम-पात्र की रुचि के अनुसार

समाप्त हो रही है।

सम्बन्ध की अदृढ़ता तथा भविष्य की आशा व्याकुलता बढ़ने नहीं देती। गहराई से विचारो कि इन दोनों में से एक कारण अवश्य होगा। अथवा कुछ-कुछ अंशों में दोनों ही होंगे, क्योंकि भविष्य की आशा न रहने पर इन्द्रियादि की क्रिया रुक जाती है, अर्थात् करने की शक्ति रह नहीं जाती है, बस उसी काल में 'वे' सब कुछ करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपका जीवन काफी अच्छा है, किन्तु सज्जनता का रस खुराक बन जाने से संसार से पूर्ण निराशा नहीं होने पाती, प्रेमी को दरो-दीवार देखने की फुरसत भी नही होती, फिर साधारण स्थिति से रहना किस प्रकार हो सकता है। समय पर आना, बैठना, कायदे से कार्य करना आदि ये सब संसार की आशा पर जीवित रहते हैं। जो बुराई अच्छाई का स्वरूप धारण कर लेती है, उसका निकलना कठिन हो जाता है, जरा सा परदा भी परदा ही है।

थोड़े से रस पर सन्तोष मत करो; 'करना' कुछ नहीं है। यदि 'करना' चाहो तो यही करो कि 'करने' की शक्ति न रहे। प्रतीक्षा यदि बढ़ जाती तो 'करने' की शक्ति मिट जाती, किन्तु प्रतीक्षा से थक कर बैठ जाना भूल हुई। प्रतीक्षा से वही थकता है, जिसको अपने प्रेम पर विश्वास नहीं होता है। अतः अपने पर पूरा विश्वास करो।

जिस प्राणी को अपने प्रेम पर विश्वास होता है, वह कभी

निराश नहीं होता। जिस काल में भविष्य की आशा मिट जावेगी, वे विना बुलाये आ जावेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका संग करने के लिये आपको कुछ नहीं करना है। उनके अतिरिक्त अन्य सभी इच्छाओं को मिटा दो, जो शायद आप कर भी चुके हैं। प्रेम-पात्र की अभिलाषा की पूर्ति उनकी कृपा पर छोड़ दो, किन्तु भविष्य की आशा न करो। उनसे 'अपनत्व' की कमी को निकाल दो। विनती वह करता है जिसमें 'अपनत्व' की कमी होती है, और 'भजन' वह करता है, जिसका सद्‌भाव पूर्वक संवन्ध नहीं होता। समाज की 'सेवा' वह करता है, जिसे विषयों की सत्यता होती है।

लोक परलोक की चाह मिटने पर माना हुआ अहं अपने आप मिट जाता है।

'उनकी' तथा संसार की चाह मिटने पर संसार हट जावेगा, और 'वे' आजावेंगे। इसके सिवाय और कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि ऐसा करने पर फिर 'करने' की शक्ति नहीं रह जाती।

× × ×

विचार दृष्टि से देखो, केवल जीवन एक है। अनंत संसार अथवा संसार जिन साधनों से दिखलाई देता है वे साधन, (इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि) और जो देखता है वह, इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मालूम होता। ये तीनों भी वास्तव मे एक हैं, क्योंकि देखने की रुचि अर्थात् विषयों का राग मिटने पर अनन्त संसार तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि

साधन देखनेवाले में विलीन हो जाते हैं, यही अखंड समाधि है। इस विचार-समाधि के होते ही निज-स्वरूप का बोध हो जाता है। यह संसार जिसको दिखाई देता है, उसकी एक अवस्था है, जो सिर्फ राग के आधार पर जीवित है। जिस प्रकार रूप, सूर्य तथा आँख तीनों एक हैं, (क्योंकि सूर्य के बिना आखें तथा रूप बन नहीं सकता) उसी प्रकार संसार, संसार का देखने वाला तथा देखने के साधन तीनों एक हैं, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। तीनों के एक होने पर जो अनुभव होता है, वह कहने मे नहीं आता। केवल यही कहा जा सकता है कि अपने में ही सब कुछ मिलता है, अर्थात् किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। जब दूसरा कोई है ही नहीं तो भय और आशा किसकी? आपके निज-स्वरूप में अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि उत्पन्न हो विलीन होते हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः संसार के देखने का राग मिटा कर निज-स्वरूप का अनुभव करो। देखने का राग मिटाने के लिये 'अपने' में से संसार को निकाल दो, अर्थात् संसार की सत्ता स्वीकार मत करो। देखनेवाले को वही दिखाई देता है, जिसकी सत्ता देखनेवाला स्वीकार कर लेता है। अतः 'अपने' से भिन्न जो कुछ रख लिया है, उसको निकाल दो। मन, बुद्धि आदि की ऐनक लगाकर आप अनंत संसार को देखते हैं। अपने को बुद्धि आदि से ऊपर उठाओ। देखने

की चाह मिटाओ। यही परम पुरुषार्थ है।

× × × ×

आपका भेजा हुआ प्रसाद आपके अनेक शरीरों ने पाकर प्रसन्नता प्रकट की, परन्तु वह प्रसाद इतना सुन्दर था कि प्रत्येक व्यक्ति पुनः लेना चाहता है। इस दृष्टि से वस्तुओं द्वारा प्रवृत्ति की अपूर्णता सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुओं की अपेक्षा जन-समाज की तृष्णा अधिक है, जिसकी पूर्ति असम्भव है। इसी कारण विचारशील प्राणी प्रवृत्ति को निर्दोष नहीं मानते, परन्तु वस्तुओं की आसक्ति मिटाने के लिये वस्तुओं द्वारा भगवत् नाते सेवा करना परम अनिवार्य है, क्योंकि सेवा स्वार्थ को खा लेती है और प्रेम-पात्र के लिये तीव्र अभिलाषा उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से वस्तुओं द्वारा भगवत्सेवा साधन अवश्य है। यद्यपि वस्तुओं द्वारा सेवा करने में कर्त्ता परतंत्रता अनुभव करता है, परन्तु वस्तुओं की दासता का अन्त एवं अन्य प्राणियों को प्रसन्नता अवश्य होती है।

आप तथा आपका सद्भाव एवं प्रसाद तीनों ही परम मधुर हैं, परन्तु जिसे आपके निज-स्वरूप की मधुरता प्राप्त है, उसे सद्भाव की मधुरता विशेष सरस नहीं प्रतीत होती और जिसे आपके सद्भाव की मधुरता प्रिय है, उस पर प्रसाद की मधुरता शासन नहीं कर पाती। जो आपकी निज-स्वरूप की मधुरता तथा सद्भाव की मधुरता से रहित है, उस पर प्रसाद की मधुरता अपना अधिकार करती है।

आपकी लीला विचित्र है, आपने संसार पर अपना अधिकार किया है, और साधारण प्राणियों पर वस्तुओं द्वारा, भक्तों पर अहैतुकी कृपा द्वारा, एवं तत्त्व-वेत्ताओं पर निज-स्वरूप द्वारा प्यार किया है, परन्तु फिर भी आप सर्वदा सब से अतीत ही रहते हैं। अतः आपकी अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य्य संपन्न लीला को धन्यवाद।

× × ×

अभेदभाव होने पर निर्विकल्प बोध अर्थात् कल्पनातीत स्वरूप का अनुभव स्वयं अपने आप करना चाहिये और उसी अनुभव में अखंड प्रीति अर्थात् निर्विकल्प स्थिति परम अनिवार्य है, क्योंकि ज्यों ज्यों निर्विकल्पता स्थायी होती जाती है त्यों त्यों अनुभव अर्थात् ज्ञान विज्ञान में परिवर्तित होते ही शक्ति तथा शान्ति दोनों से ही अभिन्नता हो जाती है। ज्ञान से शान्ति तथा विज्ञान से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः हो जाती है, क्योंकि किसी न किसी प्रकार की चाह होने पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् निर्विकल्पता भंग हो जाती है, जो वास्तव में प्रमाद है।

प्यारे, मन इन्द्रिय आदि द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल दृश्य है। उसी को साधारण प्राणी संसार के नाम से कथन करते हैं। उस दृश्य का राग दृश्य में सद्भाव तथा उससे सम्बन्ध स्थापित करता है। दृश्य का राग मिटते ही दृश्य

प्रतीत होने के जो साधन हैं, उनसे भिन्नता हो जावेगी। भिन्नता होते ही वे साधन स्वयं आप में विलीन हो जावेंगे, क्योंकि आपकी सत्ता के बिना उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उनके विलीन होते ही दृश्य तथा उसकी प्रतीति के साधन एवं द्रष्टा ये तीनों ही एक हो जावेंगे, अर्थात् ये तीनों न रहेंगे। बस उसी काल में अनन्त नित्य सौन्दर्य का अपने में ही अनुभव होगा, अथवा यों कहो कि निज स्वरूप का बोध हो जावेगा। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रीति की न्यूनता से निज-स्वरूप का प्रमाद होता है, अतः अपने में अखंड एवं स्थायी प्रीति होनी चाहिये, अर्थात् अपने से भिन्न को मत देखो। यह, (दृश्य) वह (द्रष्टा) एवं दृश्य-प्रतीति के साधन, (मन, इन्द्रिय आदि) इन सभी को 'अपने' में ही विलीन कर लो, जो निर्वासना आने पर स्वतः हो जावेंगे। जिस प्रकार सूर्य, किरण तथा धूप इन तीनों में स्वरूप से अभिन्नता और केवल प्रतीति मात्र में भिन्नता है, जिसका मूल एक मात्र दृश्य का राग तथा सद्भाव है। अतः दृश्य के राग का अन्त कर इनमें भिन्नता मिटा दो, अर्थात् अभिन्न हो जाओ। अभिन्न होते ही निजानंद की लहरों से हृदय भर जावेगा, इन्द्रिय आदि के द्वार रुक जावेंगे, अर्थात् अपनी महिमा में आप स्थित हो जावोगे, दीनता तथा अभिमान की अग्नि शान्त हो जावेगी संयोग की दासता तथा वियोग का भय सदा के लिये मिट जावेगा।

प्यारे, 'जीवन' एक है, अनेक नहीं। अनेकता उसी 'एक' की एक अवस्था है, जो विषयों के राग से प्रतीत होती है। निजानन्द भाव तथा भाषा से परे है। विषय-रस मिटते ही निज-रस अपने आप आ जाता है। क्रिया तथा भाव से उत्पन्न होनेवाला रस विषय-रस है। भेद-भाव रूपी रोग मिटाने के लिये अभेद-भाव परम औषधि है। औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है। दोनों के अंत होने पर जो शेष रहता है वही निजानन्द है।

× × ×

यदि आपने यह समझ लिया है कि मैं शरीर-भाव से अतीत हूँ, तो फिर उसके अनुरूप जीवन बना लेना परम अनिवार्य है। शरीर-भाव से अतीत होते ही माना हुआ सद्-भाव शेष नहीं रहता। माना हुआ सद्भाव मिट जाने पर निर्वासना आ जाती है, निर्वासना आने पर सच्चिदानन्द-घन-परम-तत्त्व से अभिन्नता स्वतः हो जाती है।

अपने में सच्चिदानन्द-घन-भगवान् की सद्भाव-पूर्वक स्थापना कर अचिन्त हो जाना शरीर-भाव से अतीत होने का सुगम साधन है।

प्रणव का वास्तविक अर्थ "यह" "मैं" (शरीरादि) मैं नहीं हूँ, अथवा "वह" "मैं (सच्चिदानन्दघन) "मैं" हूँ।

इन दोनों प्रकार के अर्थों में केवल कल्पना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि 'यह' मैं नहीं इससे ही सच्चिदानन्द-घन

में प्रतिष्ठा हो जाती है, अथवा मैं 'सच्चिदानन्द-घन' हूँ, इससे शरीर भाव मिट जाता है, अर्थात शरीर-भाव मिटने पर सच्चिदानन्द-घन मे प्रतिष्ठा होने पर शरीर-भाव का गल जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से "यह" मैं नहीं अथवा 'वह' मैं हूँ इन दोनो भावनाओं का एक ही अर्थ है।

प्रणव के उच्चारण के अन्त मे क्रिया से भाव अधिक होना चाहिये। ज्यो ज्यों क्रिया भाव से तद्रूप होती जावेगी, त्यों त्यो भाव यथार्थ ज्ञान मे विलीन होता जावेगा। यह निर्विवाद सत्य है। अतः उच्चारण के अन्त मे अचिन्त होकर अपने में ही सच्चिदानन्द-घन परम-तत्त्व का अनुभव करो।

यह भली प्रकार समझ लो कि स्वीकृति के अनुरूप सद्‌भाव होने पर स्वीकृति ज्ञान के समान ही मालूम होती है, अर्थात् विकल्प रहित सद्‌भाव साधारणतः ज्ञान ही मालूम होता है, जो वास्तव मे ज्ञान नहीं है। *उस विकल्प-रहित सद्‌भाव के अनुरूप भाव क्रिया मे विलीन हो दृश्य की ओर ले जाता है, परन्तु अध्यात्म-जिज्ञासु की क्रिया भाव में विलीन हो परम-तत्त्व से अभिन्न हो जाती है, अर्थात् भोग की ओर जाने में सद्भाव क्रिया में विलीन हो जाता है, और योग की ओर जाने में क्रिया भाव में विलीन हो परम-तत्त्व से अभिन्न हो जाती है;

*नोट—तत्त्व ज्ञान से वासनाओं की निवृत्ति होती है, किन्तु सीमित सद्भाव से वासना की उत्पत्ति होती है, अतः सद्भाव ज्ञान नहीं है।

अतः क्रिया भाव में विलीन कर निज-स्वरूप का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ।

शरीर से असंग होते ही शरीर रूपी यन्त्र विश्व से अभिन्न हो जावेगा और आप विश्वनाथ से अभिन्न हो जावेंगे। विश्व विश्वनाथ की एक अवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्यों ज्यों विश्वनाथ से अखंड प्रीति होती जावेगी त्यों त्यों प्रमाद स्वतः मिटता जावेगा। जिस प्रकार सूखी मिट्टी अपने आप झड़ जाती है, उसी प्रकार विश्वनाथ से अखंड प्रीति होने पर शरीर-भाव अपने आप मिट जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। अतः अपने में अपने प्रेमास्पद की स्थापना कर सब कुछ उनके समर्पण कर अचिंत तथा अभय हो जाओ, यही परम पुरुषार्थ है।

× × ×

जिसने शरीरादि सभी को इस्तीफा दे रक्खा है, अर्थात् जिसने शरीर से ममता हटा ली है, उसके लिये स्कूल का इस्तीफा क्या मूल्य रखता है? वे धन्य हैं जो छुट्टी पा चुके। त्याग कुल का होता है, जुज़ का नहीं। प्रेम अपने से होता है, भिन्न से नहीं। गहराई से देखो, जिसका किसी प्रकार भी त्याग हो सकता है, उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रीति उसी से होती है, जिसका त्याग नहीं हो सकता।

त्याग स्थायी होने पर जो शेष रहता है, वही प्रीति है। प्रीति की नहीं जाती, होती है। दृश्य की अरुचि का अर्थ त्याग का स्थायी होना है। अपने में प्रीति होने पर अपने से

भिन्न अपने से बड़ा तथा छोटा कुछ भी नहीं अनुभव होता।

ॐ के उच्चारण करने का भाव यही है कि मैं यह शरीर नहीं, बल्कि आनंद-घन-आत्मा हूँ। उच्चारण में क्रिया की कमी और भाव की प्रबलता का अर्थ यही है कि जब तक स्वरूप का प्रमाद न हो, तब तक उच्चारण न हो, अर्थात् आत्मानुभव निरन्तर जाग्रत रहे। हृदय में निजानंद की गंगा लहराती रहे, सब ओर अपना आप ही नजर आये।

ऐसी कोई चाह उत्पन्न नहीं होती, जिसका सम्बन्ध शरीर-भाव से न हो। आत्म-भाव होने पर सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। जब एक चाह की पूर्ति का आनंद कहने में नहीं आता, तो विचारो, जिसकी सभी चाहें निवृत्त हो गई हैं, भला उसके आनन्द का कौन पार पा सकता है?

जिसने अपने सभी कामों का अन्त कर दिया है, उसके द्वारा होनेवाले सभी कार्य अपने आप हो जाते हैं। संसार का भय उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक अपनी पूर्ति के लिये संसार की आवश्यकता होती है। आप अपने में से असमर्थता-भाव निकाल दीजिये, क्योंकि आप सभी संकल्पों के त्याग करने में समर्थ हैं। संकल्प की पूर्ति का लालच तो विषयी प्राणी के हृदय में होता है, उसी लालच के कारण बेचारा असमर्थता का अनुभव करता है। यह भली प्रकार समझ लो कि संकल्प-पूर्ति के रस की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति का रस कहीं अधिक महत्त्व

की वस्तु हैं। जो साधक संकल्प-पूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति के रस में अपने को आबद्ध नहीं करता, वही अनन्त नित्य-रस पाता है। उसके मिलने पर ही वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव होता है।

× × × ×

यदि प्राणी अपनी पूरी योग्यता के अनुसार जो कर सकता है, वह कर डाले तो फिर करने का कार्य समाप्त हो जाता है और उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है। सभी उलझनें उसी समय तक रहती हैं, जब तक अपने को बचाने की आदत रहती है। जिसने अपनी पूरी शक्ति लगादी, उसने अपने मनोरथ को पूर्ण किया। सच्चा समर्पण अथवा सर्व-त्याग करने पर कमी शेष नहीं रहती। जिज्ञासापूर्ण होने पर तत्त्वज्ञान स्वयं हो जाता है। सद्भाव पूर्वक सम्बन्ध होने पर विरह स्वाभाविक होता है और विरह की पूर्णता होने पर मिलन अनिवार्य होता है। सेवा वही कर सकता है, जिसको अपनी प्रसन्नता के लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं होती। विषयेच्छाओं के निवृत्त होने पर स्वाभाविक अभिलाषा जाग्रत होती है, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक अभिलाषा जाग्रत होने पर विषयेच्छाओं की निवृत्ति होती है। स्वाभाविक विषय-निवृत्ति होना ही योग है। योग से शक्ति संचित होती है, परा शान्ति नहीं। स्वाभाविक पूर्ण असंगता होने पर निज-स्वरूप का स्वयं बोध हो जाता है। बोध होने पर परम शान्ति विना बुलाये आ जाती है। योग तथा

बोध होने से ही जीवन की पूर्णता अर्थात् शक्ति तथा शान्ति आ जाती है। योग के बिना शक्ति-हीनता नहीं मिटती और यथार्थ बोध के बिना शांति नहीं आती। शांति आने पर योग स्वाभाविक होने लगता है। योग होने पर यथार्थ बोध के लिये विचार अनिवार्य है।

मानी हुई सत्ताओं की अस्वीकृति हो जाना ही विचार ह। विचार अविचार को खाकर स्वयं मिट जाता है और अन्त में निजानन्द शेष रहता है। यह भली प्रकार समझलो कि सद्भाव से भगवत् शरणापन्न होने पर योग स्वतः हो जाता है। योग कल्पतरु के समान है, अतः जिन साधकों में अध्यात्म-जिज्ञासा है, उनकी पूर्ति के लिये सर्व समर्थ भगवान 'विचार' के रूप में प्रकट हो अविचार को खाकर जिज्ञासा की पूर्ति करते हैं, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान प्रदान करते हैं।

विचार बुद्धि का व्यापार नहीं है। बुद्धि तो केवल भोग की वास्तविकता बताने में समर्थ है। बुद्धि का व्यापार समाप्त होने पर सीमित अहं से उत्पन्न होनेवाला प्रयत्न समाप्त हो जाता है। बस, उसी काल मे लीलामय भगवान् जिज्ञासु में 'विचार' के रूप मे और भक्त के लिये 'प्रीति' के रूप में एव विषयी को 'अनुकूल परिस्थिति' के रूप मे प्रकट होते हैं।

× × ×

आप की मौज ने सभी को मौज प्रदान की है। जिस प्रकार अग्नि सभी लकड़ियों को अग्नि बना लेती है, उसी प्रकार

निजानन्द से हरा-भरा जीवन सभी को आनन्द प्रदान करता है। 'मैं' का प्रयोग सब कुछ हो सकता है और सब से परे रहता है। मौज में अपने को मत देखो, प्रत्युत 'अपने में' मौज को देखो, क्योंकि "मैं" के बिना मौज प्रकाशित नहीं होती। उस "मैं" को जो सभी में परिपूर्ण है, अपने से ही 'अपने में' देखो।

निजानन्द की मस्ती इतनी बढ़ जानी चाहिये कि हृदय आदि छक जायें, दोष-युक्त सत्ता का अभाव हो जाये और इन्द्रियों के दरवाजे रुक जावें।

'सत्य क्या है?'—इसका कथन नहीं होता, प्रत्युत संकेत होता है। कथन करने के सभी साधन सीमित हैं और सत्य अनन्त है, अतः सत्य का किसी साधन द्वारा कथन नहीं हो सकता।

जिस प्रकार बुद्धि आदि विषय-प्रवृत्ति का साधन हैं, उसी प्रकार विषय-निवृत्ति अर्थात् 'योग' निजानन्द का साधन है।

साधारण साधक योग को ज्ञान मान लेते हैं। योग तो वास्तव में साधन है, साध्य नहीं। साधन का अभिमान गल जाने पर साधन उसी प्रकार साध्य से अभिन्न हो जाता है, जैसे नदी समुद्र से, अतः योग का अभिमान गल जाने पर ही तत्त्व-ज्ञान हो सकता है।

शरीर-भाव गल जाने पर विषय-निवृत्ति (निर्वासना) स्वाभाविक होती है, अर्थात् किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

आनन्द की अभिलाषा न करो, प्रत्युत आनन्द-घन-प्रेम-

पात्र की अपने मे स्थापना कर सब प्रकार से अचिन्त हो जाओ।

× × ×

जिसकी दृष्टि विना ही दृश्य के स्थिर होगई है, जिसका प्राण विना ही निरोध के सम हो गया है और जिसका चित्त विना ही आधार के शान्त हो गया है, वह योगी है।

द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों का एक हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है। त्रिपुटी का अभाव होने पर ज्ञान और ज्ञान होने पर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। दृश्य से असंग होने पर दृश्य तथा दर्शन 'द्रष्टा' मे ही विलीन हो जाते हैं। ऐसा करना ही परम पुरुषार्थ है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का साक्षी और प्रवृत्ति के अन्त में साक्षी-भाव का भी अन्त हो जाना चाहिये। साक्षी-भाव आजाने पर प्रवृत्ति का प्रभाव अपने पर नहीं होता और प्रवृत्ति के अन्त में अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। साक्षी-भाव का अनुभव होने पर निज-स्वरूप का ज्ञान होता है और ज्ञान मे निष्ठा होने से जीवन-मुक्ति का अनुभव होता है। जीवन-मुक्ति के विना दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निरन्तर निजानन्द से छक जाने चाहिये। निज रस आने पर सभी रस नीरस हो जाते हैं। जो अपने सिवाय किसी की ओर लेशमात्र भी नहीं देखता, वही निज-रस का अनुभव करता है।

अपने आप में सन्तुष्ट हो जाने पर मानी हुई दूरी तथा

मानी हुई एकता मिट जाती है। (मानी हुई एकता संसार से और मानी हुई दूरी आनन्द से होती है।)

× × ×

अपना मूल्य कम न होने पाये, यही 'पुरुषार्थ' है। शरीर से लेश-मात्र भी संबन्ध न रहे, यही 'त्याग' है। अपने से भिन्न किसी की सत्ता स्वीकार, न हो यही 'प्रेम' है।

प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थिति का अपने पर प्रभाव न होने देना महान् बल है। जिस पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं होता, उसके सामने से परिस्थिति लज्जित हो कर चली जाती है। प्यारे, वही मायापति है जिस पर माया का प्रभाव नहीं होता। आप विश्व के प्रेम-पात्र हैं, क्योंकि सारा विश्व आपकी ओर दौड़ रहा है। आप दृश्य की ओर न देखो, प्रत्युत उसकी ओर देखो जो आप के बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकता। जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं कर सकते, उसी में हृदय आदि की अचल स्थिति रहनी चाहिये। निरन्तर अखंड प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाओ। ज्यों ज्यों प्रसन्नता बढ़ती जायगी, प्रतिकूलता लज्जित होकर हटती जायगी। प्यारे, प्रसन्नता की ओर सभी देखते हैं, अतः सारा विश्व आपकी ओर देखेगा। दुखी की ओर दुःखहारी के अतिरिक्त और कोई नहीं देखता। अतः संसार पर वही शासन कर सकता है, जो लेशमात्र भी दुखी नही होता। दुःखहारी दुखी पर दया करते हैं और प्रसन्नता में निवास करते हैं। दुःख उसको दुखी नहीं कर सकता, जिस पर

वियोग का भय तथा संयोग की दासता शासन नहीं करती। जो वियोग से नहीं डरता, उससे सभी डरते हैं, अथवा यों कहो कि उससे सभी योग करते हैं। वियोग जीवन की परम आवश्यक वस्तु है। वियोग के विना नित्य-जीवन का अनुभव नहीं होता। वियोग से प्रेम होने पर किसी प्रकारका भय नहीं होता। वियोग अपनालेने पर कुछ भी करना शेप नहीं रहता। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, अभय रहो, लेश-मात्र भी चिन्ता न करो। चिन्ता-विलाप से रहित जीवन आस्तिक जीवन है, क्योंकि चिन्ता-विलाप नास्तिक प्राणी का भोजन है। वह वेचारा उसी के आधार पर जीवित है। जो प्राणी आस्तिक-तत्व से अभेद है, उसके जीवन मे चिन्ता-विलाप कहाँ?

× × ×

थकावट उसीको होती है, जिसको प्रवृत्ति मे रस आता है। प्रवृत्ति वेचारी स्वाभाविक निवृत्ति मे विलीन होती है, उस स्वाभाविक निवृत्ति को अपना लो, अर्थात् प्रवृत्ति से द्वेप न करो और न इसे बुलाओ यही निवृत्ति का अपनालेना है। अपने आप आये हुए कार्य को स्वार्थत्याग तथा सेवा-भाव पूर्वक प्रेम-पात्र के नाते कर देने और किसी अप्राप्त कार्य का आवाहन न करने से कार्य के अन्त में स्वाभाविक निवृत्ति आ जाती है, जो विचार तथा प्रीति जाग्रत करने में सर्वदा समर्थ है।

"मैं क्या हूँ", इसके जानने के लिये भी दूसरे की

आवश्यकता हो गई, क्या ही विचित्र बात है! क्या आँख को किसी से देखा जा सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जो कुछ देखा जाता है, वह तो रूप होता है, आँख नहीं। अतः सभी प्रतीत होनेवाली सत्ताओं से असंग होने पर आप स्वयं अपने आप में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। असंग होना क्रिया नहीं है, प्रत्युत प्रतीति में रस न लेना है, अर्थात् संयोग की दासता का त्याग है।

"मैं क्या हूँ", यह प्रश्न कब उत्पन्न होता है? जब "मैं" अपने को किसी सीमित व्यक्ति भाव में आबद्ध कर देता है। उस बन्धन को तोड़ देना ही 'मैं' के यथार्थ स्वरूप को जान लेने का साधन है। अतः वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों में अपने को आबद्ध मत होने दो। प्यारे, सभी वस्तु, अवस्था आदि को आप स्वयं प्रकाशित करते हो। उन सबकी सत्ता आपकी सत्ता से ही है। अतः अपने आप में नित्य-स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव करो, अर्थात् अपना अनुभव करने के लिये अपने से भिन्न की ओर मत देखो। क्रिया तथा भाव की जंजीरों को तोड़ दो। इन जंजीरों ने ही थकावट कर दी है। माना हुआ 'मैं' चोर के समान है। "मैं नित्य हूँ" यह भाव आते ही माना हुआ "मैं" भाग जायगा। इस भाव को भी बुद्धि का विषय न बनाओ, क्योंकि ज्ञान का चिन्तन ही अज्ञान है। अपने आपमें सन्तुष्ट होने से माना हुआ "मैं" मिट जाता है।

× × ×

यदि भूत काल का व्यर्थ चिन्तन तथा भविष्य की आशा न की जावे, तो वर्तमान में ही प्रेमी प्रेम-पात्र से अभेद हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन होती है। निवृत्ति प्रेम-पात्र से अभेद करने मे समर्थ है, परन्तु साधारण प्राणी वर्तमान प्रवृत्ति के अन्त मे भी आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। इस भूल के कारण निवृत्ति भी प्रवृत्ति के समान ही हो जाती है, अर्थात् व्यर्थ चिन्तन भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में विचार का प्राकट्य नहीं होने देता। विचारशील आगे पीछे का चिन्तन नहीं करते, क्योंकि आगे पीछे का चिन्तन उन प्राणियों को करना चाहिये, जिनको उस वस्तु की आवश्यकता हो, जो वर्तमान मे नहीं है। जो वर्तमान में नहीं है, वह वास्तव में नहीं है, क्योंकि "है" का अभाव नहीं होता; अतः प्रेमी का प्रेम-पात्र वर्तमान में ही है।

यदि 'नहीं' को अर्थात् माने हुए "मैं" को स्वाभाविक स्वयं-प्रकाश से अभेद कर दिया जावे, तो जिज्ञासु अपने आप में सन्तुष्ट हो जाता है। तब स्वाभाविक प्रीति उदय होती है। स्वाभाविक प्रीति क्रिया तथा भाव से परे है, अथवा यों कहो कि प्रीतम का स्वभाव है। स्वाभाविक प्रीति के बिना असत्य का अभाव नहीं होता। अतः स्वाभाविक प्रीति का उदय होना अति आवश्यक है। गहराई से देखो, सत्य असत्य को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है। असत्य का अभाव करने के लिये तो अखण्ड प्रीति की आवश्यकता है। प्रीति क्रिया को

हटाकर, प्रमाद को जलाकर, दूरी को मिटा कर एवं भिन्नता को गलाकर प्रीतम से अभिन्न कर देती है।

× × ×

"मैं" से भिन्न कुछ है ही नहीं, ऐसा अनुभव करना ही माने हुए "मैं" को स्वाभाविक "मैं" में विलीन करना है, अर्थात् अपने से भिन्न सत्ता को स्वीकार मत करो।

× × ×

निर्बलता दो प्रकार की होती है :—

१. धार्मिक संस्कृति के अनुसार शरीर-दृष्टि से अपने को जैसा माना हो, उसके अनुसार जीवन का न होना। जैसे प्रेमी मान कर प्रेम-पात्र से भेद शेष रहना निर्बलता है, अथवा भक्त मानकर विभक्त होना निर्बलता है, अथवा जिज्ञासु मानकर किसी भी अवस्था आदि से सम्बन्ध रखना निर्बलता है।

२. अपने से भिन्न सत्ता को स्वीकार कर, अपने लिये अपने से भिन्न की खोज करना परम निर्बलता है।

सबल वही है जिसने इन दोनों प्रकार की निर्बलताओं का नितान्त अन्त कर दिया है। विचारशील प्राणी इन दोनों प्रकार की निर्बलताओं का अन्त करने में सर्वदा समर्थ है, क्योंकि निर्बलता का मूल कारण प्रमाद है, और कुछ नहीं। यदि प्रमाद न हो तो "मैं" के अनुसार निष्ठा अर्थात् सद्भाव पूर्वक स्वीकृति स्वयं हो जाती है, क्योंकि "मैं" में सभी को अत्यन्त प्रियता होती है, अथवा यों कहो कि "मैं" ही एक परम

प्रेमास्पद है।

रोग-भगवान् "मैं" को "मैं" से अभेद करने के लिये विशेष सहायता करते हैं, क्योंकि शरीर की वास्तविकता का ज्ञान एवं उसके राग की निवृत्ति करा देते हैं, जिससे शरीर से असंगता स्वतः हो जाती है। शरीर से असंग होते ही अपने मे ही अपने प्रेमास्पद का अनुभव होता है। इस दृष्टि से रोग आरोग्यता की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु उसका सदुपयोग होना चाहिये।

× × ×

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं। अर्थ के अपनाते ही उन्नति हो जाती है। वियोग, संयोग की अपेक्षा सबल तथा स्वतंत्र है, अतः उसके अपनालेने में ही प्राणी का विशेष हित है। जो प्राणी वियोग को नहीं अपनाते, वे वेचारे योग (वियोग का अभाव) नित्य-जीवन, नित्य रस नहीं पाते, जो वास्तव में प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता (Want) है। विषयेच्छाओं के जाल में फँसा हुआ प्राणी संयोग की दासता स्वीकार करता है। उस दासता की निवृत्ति के लिये वियोग भगवान् कृपा करते हैं। अतः वियोग को अपनालेना परम अनिवार्य है। मानव-जीवन मे विषय-प्रवृत्ति का स्थान केवल विषय-सत्ता की वास्तविकता जानने मात्र के लिये ही है, अर्थात् जिस राग को प्राणी विचार से नहीं निकाल सकता, उस

राग की निवृत्ति के लिये धर्मानुसार प्रवृत्ति की जाती है। प्रवृत्ति, मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है, परन्तु विषयासक्ति के कारण जब प्राणी उस प्रवृत्ति को ही मानव-जीवन का उद्देश्य मान लेता है, तब निवृत्ति सिखाने के लिये वियोग भगवान् विवश हो जाते हैं। अतः हम लोगों को वियोग भगवान का हृदय से पूजन करना चाहिये।

× × ×

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अंधकार शेष नहीं रहता, उसी प्रकार उनका (सर्वसमर्थ भगवान् का) हो जाने पर प्रमाद शेष नहीं रहता। प्रमाद उसी समय तक जीवित है, जब तक प्राणी उनका (प्रेम-पात्र का) नहीं हो जाता, अथवा प्रमाद को प्रमाद नहीं जानता। आपने लिखा है कि छाया की भाँति प्रमाद साथ ही लगा है। गहराई से देखिये, छाया कब तक दिखाई देती है? जब तक देखनेवाले का मुँह सूर्य की ओर नहीं होता। सूर्य की ओर मुँह होने पर छाया किसी को नहीं दिखाई देती, यद्यपि छाया की ओर देखने पर भी छाया प्राप्त नहीं होती, क्योंकि छाया देखनेवाले से आगे रहती है, परन्तु देखने का राग छाया से संबंध-विच्छेद नहीं होने देता। देखने का राग छाया की सत्ता स्वीकार करने पर होता है। छाया की सत्ता अपनी वास्तविक सत्ता के न जानने से जीवित रहती है। जिसको अपनी सत्ता का ज्ञान हो जाता है उसको छाया में सत्ता-बुद्धि नहीं होती। यह नियम है कि जिसमें सत्ता-बुद्धि

नहीं होती, उसमें राग नहीं होता। राग के बिना 'प्रमाद' जीवित नहीं रहता। राग का अभाव अनुराग से होता है। अत्यन्त अनुराग बढ़ जाने पर राग करने वाला स्वभाव प्रेम पात्र के अनुराग मे विलीन हो जाता है। अनुराग के उत्पन्न न होने पर निर्जीव राग भी जीवित के समान विघ्न करता है। अतः राग को राग समझने के लिये तो विचार की आवश्यकता है, परन्तु राग का अभाव करने के लिये अनुराग की आवश्यकता है। विचार राग को मृतक बनाता है। अनुराग उस मृतक राग को खा जाता है। अनुराग के बिना विचार मस्तिष्क का रोग है और विचार के बिना अनुराग हृदय की पीड़ा है।

अनुराग तथा विचार दोनों से ही राग का अभाव होता है। हाँ, यह अवश्य है कि योग्यता-भेद से किसी को विचार के पश्चात् अनुराग और किसी को अनुराग के पश्चात् विचार अपने आप आता है। यदि विचार अनुराग में नहीं बदला तो समझना चाहिये कि अपूर्ण विचार था और यदि अनुराग विचार में नहीं बदलता तो अपूर्ण अनुराग था। विचार की पूर्णता अनुराग में और अनुराग को पूर्णता विचार में निहित है। विचार तथा अनुराग का भेद प्रारंभिक भेद है, अन्तिम नहीं।

× × ×

न मालूम किस दृष्टि से आप लोग यह लिखते है कि साधन उपयुक्त तो है, किन्तु कठिन है। कर्त्तव्य पालन कठिन नहीं होता, क्योंकि कर्त्ता का कर्त्तव्य वही है, जिसे कर्त्ता कर सकता

है। किसी तृषावन्त प्राणी से पूछिये कि क्या पानी पीना कठिन है ? योग्यतानुसार आवश्यक साधन करने में प्रत्येक साधक समर्थ है।

साधन में कठिनता का भाव केवल साधक का प्रमाद है, अथवा कठिनता का कारण साधक की योग्यता के प्रतिकूल साधन है, अथवा साधक आवश्यकता होने से पूर्व आवेश में आकर साधन में प्रवृत्त हुआ है, अथवा विश्वास की शिथिलता है तथा अनुभूति का निरादर करता है, अर्थात् निज ज्ञान के अनुरूप जीवन नहीं करता। इन सभी कारणों से साधक को साधन में कठिनता प्रतीत होती है।

मस्तिष्क की निर्बलता मिटाने के लिये मस्तिष्क को यथेष्ट विश्राम परम अनिवार्य है। यथेष्ट विश्राम प्राप्त करने के लिये वर्तमान में आये हुए कार्य को पूरी शक्ति लगा कर पूरा कर डालो और कार्य समाप्त होने पर काम से संबंध-विच्छेद कर दो। ऐसा करते ही मस्तिष्क को यथेष्ट विश्राम मिल जावेगा।

अब रही भगवच्चिन्तन की बात, उसके लिये यदि अपने से भिन्न में उनको देखना है, तो केवल उनके होकर रहो। हृदय में अपनत्व के नाते सदैव उनकी कृपा की प्रतीक्षा होती रहे। उनका होने पर प्रतीक्षा स्वयं उत्पन्न होगी, करनी नहीं पड़ेगी। विश्राम-भंग उन्हीं चेष्टाओं से होता है, जो करनी पड़ती हैं। अपने आप होनेवाली चेष्टायें थकावट उत्पन्न नहीं करतीं। यदि अपने प्रेम-पात्र को अपने में ही देखना है, तो

अचिन्त हो जाओ।

× × ×

३१-५-५४

जब प्राणी अपनी दृष्टि मे अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, परन्तु फिर भी अन्य प्राणियों से आदर की इच्छा करता है एवं अनायास मिले हुए आदर को (जो किसी सज्जन की सज्जनता है) अपना आदर मान लेता है तथा अनादर-युक्त जीवन से घोर दुखी नहीं होता, तो यह प्राणी की परम भूल है। इस परम भूल से दोष मिटाने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उन्नति रुक जाती है, क्योंकि जब प्राणी अनायास मिले हुए आदर को मिथ्या ही अपना आदर मान लेता है, अर्थात् दूसरो की सज्जनता को अपना गुण समझने लगता है, तो ऐसी अवस्था में अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की शक्ति मिटने लगती है। सिद्धान्ततः दोष दिखाई देता है, गुण उत्पन्न होता है, क्योंकि दिखाई वही वस्तु देती है, जो अपनी बनाई हो, स्वाभाविक न हो। यह नियम है कि प्रत्येक दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है। जब दोषी अपना बनाया हुआ दोष देखना बन्द कर देता है, तब अपूर्ण (Incomplete) होने पर भी पूर्ण की भाँति सन्तुष्ट-सा रहता है। परन्तु उन्नति-शील प्राणी दूसरों की सज्जनता को अपना गुण नहीं मानता, अर्थात् दूसरो के अनायास दिये हुए आदर को अपना आदर नहीं जानता, प्रत्युत दूसरों की सज्जनता समझता है। ऐसी

अवस्था में अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की योग्यता आ जाती है। ज्यों ज्यों अपने बनाये हुए दोष देखने की शक्ति प्रबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों दोषी के दोष स्वतः व्याकुलता की अग्नि में जलते जाते हैं, क्योंकि अपने पतित होने का ज्ञान असह्य वेदना उत्पन्न करता है। यह भली प्रकार समझलो कि असह्य वेदना निर्दोषता का मूल साधन है, अर्थात् ऐसा कोई विकास नहीं होता जिसका जन्म किसी वेदना से न हो। जब दोषी को अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब दोषी का दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि जो बनाई हुई वस्तु होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होने पर उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः अपनी दृष्टि से अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद करने में सर्वथा समर्थ है। दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही निर्दोष परमतत्त्व आनन्दघन भगवान् से स्वतः सम्बन्ध हो जाता है। भगवान् से सम्बन्ध होते ही मन, इन्द्रिय आदि सभी यन्त्रों में स्वाभाविक पवित्रता लहराने लगती है, अर्थात् सभी गुण बिना ही प्रयत्न स्वतः आ जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार मिट जाता है, उसी प्रकार भगवान् से सम्बन्ध होते ही सभी दोष मिट जाते हैं। पतित को अपनाने के लिये पतित-पावन से भिन्न और कोई समर्थ नहीं है।

जोधपुर
१७—६—४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

जो प्राणी अपने में ही अपने प्रियतम की स्थापना नहीं करता, उस वेचारे को स्थायी अखण्ड प्रसन्नता नहीं मिलती, क्योंकि जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिये अपने से भिन्न की खोज करता है, तब तक मन में स्थायी स्थिरता नहीं आती। मन की स्थिरता के विना वियोग का भय नहीं मिटता और न नित्य-योग प्राप्त होता है। यद्यपि मन की स्थिरता के लिये प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है, परन्तु संयोग की दासता का रस मन को स्थिर होने नहीं देता, अर्थात् अविपय नहीं होने देता।

भगवान् की अहैतुकी कृपा से रोग ग्रसित होने के कारण आपको मन पवित्र करने के लिये बड़ा ही सुअवसर मिला है, क्योंकि रोग से शरीर की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, जिससे भोग,वासनाओं का त्याग करने की शक्ति आ जाती है। देखो, रोग से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। रोग का सदुपयोग भोग-वासनाओं का अन्त कर देता है। भोग-वासनाओं के अन्त होते ही आप अपने में ही अपने प्रियतम की स्थापना कर सकेंगी। अर्थात् अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव करेंगी, हृदय प्रियतम के प्रेम से छका रहे, अर्थात् राग-द्वेष शून्य हो जावे, यही सच्ची भक्ति है, जो भक्त

होने पर स्वतः आजाती है। प्रीति दो कारणों से ही उत्पन्न होती है—आवश्यकता तथा अपनत्व से—क्योंकि जिसको अपना मान लेते हैं, उससे बिना ही प्रयत्न प्रियता हो जाती है और जिसकी आवश्यकता होती है, उससे भी प्रीति स्वतः होती है। गहराई से देखिये, प्यास लगने पर पानी से स्वतः प्रियता हो जाती है। अपना रोग-ग्रसित शरीर भी प्रिय मालूम होता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि अपनत्व से तथा आवश्यकता से प्रीति उत्पन्न हो जाती है। यदि आप सर्वसमर्थ आनन्दघन-भगवान से सद्भाव-पूर्वक अपनत्व कर लेंगी, अथवा उनके परम प्रेम का आस्वादन करने की आवश्यकता स्थायी बनालेंगी, तो हृदय में प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगेगी। ज्यों ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जावेगी त्यों त्यों सभी दोष स्वतः मिटते जायेंगे।

आप विचारपूर्वक अपनी दृष्टि से अपने मन को देखिये, कहीं उसमें यह तो नहीं छिपा है कि आप अपनी बालिकाओं को अपना मानती हो। मेरा यह विश्वास है कि जब आप सच्चाई पूर्वक उनसे अपनत्व हटा लोगी, तब बालिकाओं के हित तथा प्रसन्नता के साधन स्वतः उत्पन्न हो जावेंगे, क्योंकि जो वस्तु सर्व-समर्थ भवगवान् के समर्पण हो जाती है, उसका हित अवश्य होता है, वे तुम्हारी होकर प्रसन्न नहीं हो सकतीं। तुम्हारा शरीर तुम्हारा होकर स्वस्थ नहीं हो सकता, तुम संसार की होकर प्रसन्नता नहीं पा सकती, अर्थात् जिस काल में

बालिकायें तुम्हारी नहीं रहेंगी, तुम्हारा शरीर तुम्हारा नहीं रहेगा, तुम संसार की होकर नहीं रहोगी, बस उसी काल में स्थायी प्रसन्नता तुम्हारे पैर पलोटेगी। अतः सच्चाई पूर्वक सभी सम्बन्धों को त्याग सद्भावपूर्वक सब प्रकार से सर्वसमर्थ आनन्दघन भगवान् की हो जाओ, बस इसीसे कल्याण होगा।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका—अभेद स्वरूप

× × ×

जोधपुर

१५-६-४५

भक्तवर

सर्वदा अभय रहो।

मन की स्थिरता के लिये संयोग की दासता तथा भोग-वासनाओं का त्याग परम अनिवार्य है। ज्यों ज्यों संयोग की दासता मिटती जाती है, त्यों त्यों मन में स्थिरता स्वतः आती जाती है, ज्यों ज्यों मन में स्थिरता आती जाती है, त्यों त्यों छिपी हुई शक्तियों का विकास अपने आप होता जाता है।

प्रत्येक प्राणी में आवश्यक शक्ति विद्यमान है, किन्तु व्यर्थ चिन्तन करने से शक्ति का विकास नहीं हो पाता। जो प्राणी आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करता उसके मन में ध्यान करने की शक्ति अवश्य आ जाती है। ध्यान करने के लिये संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत उससे असंग

होना अनिवार्य है।

जिसके मन से वस्तुओं का चिन्तन, ध्यान निकल जाता है, उसका मन आनन्दघन भगवान् का ध्यान स्वतः करने लगता है। ध्यान वही है जो अपने आप हो।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी को नदी का वहाव जहाँ चाहता है ले जाता है, लकड़ी जल से कुछ नहीं कहती, उसी प्रकार भक्त को भगवान् जहाँ चाहें ले जाते हैं। भक्त भगवान् से कुछ नहीं कहता। अतः अपने में भक्त-भाव की स्थापना कर अचिंत हो जाओ, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन मत करो। सब प्रकार के चिन्तन का त्याग होते ही अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होगा। प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के बीच में केवल चिन्तन ही रुकावट है, जो दोनों को मिलने नहीं देता। जिसने व्यर्थ चिन्तन का त्याग किया, उसने ही प्रियतम के प्रेम को पाया है।

देखो, जो प्राणी अपने को छोटी-छोटी प्रसन्नताओं में आवद्ध नहीं करता, उसी को स्थायी, असीम, अनन्त, अखण्ड प्रसन्नता मिलती है। उस प्रसन्नता के प्राप्त करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परतन्त्रता तो केवल संयोग से उत्पन्न होने वाले रस के लिये है, जिसे विचार-शील स्वीकार नहीं करते, क्योंकि संयोग में वियोग का भय सर्वदा बना रहता है। भय-युक्त प्रसन्नता उन्हीं प्राणियों को प्रिय है, जिनमें सच्ची आस्तिकता नहीं है। आस्तिक प्राणी तो उसी प्रसन्नता को स्वीकार करता है, जिसमें किसी प्रकार का भय न हो।

प्रीति का पाठ मछली से पढ़ना चाहिये। मछली जल के बिना किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहती, किन्तु अभागा जल कभी भी मछली का स्मरण नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है कि जो जल की धारा बड़ी बड़ी पहाड़ियों को तोड़ देती है, मछली उस धारा के विपरीत स्वतन्त्रता पूर्वक विचरती है। जल उस पर अपना लेशमात्र भी शासन नहीं कर पाता, प्रत्युत प्यार करता है। उसी प्रकार सच्चा प्रेमी, प्रेमास्पद के पवित्र प्रेम को पाकर सब प्रकार से सन्तुष्ट हो, कृतकृत्य हो जाता है, उस पर संयोग की दासता का तथा वियोग के भय का लेशमात्र भी शासन नहीं रहता।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

उन्नतिशील प्राणी वही हो सकता है, जिसको अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देखने की योग्यता है। निर्बलता का ज्ञान होते ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि ज्यों ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों निर्बलता मिटाने की शक्ति आती जाती है। निर्बलता उसी प्राणी में निवास करती है, जिसको निर्बलता होने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् अनन्त शक्ति (Universal energy) बेचैनी को उसी प्रकार खा लेती है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को खा लेता है।

योग्यतानुसार परिश्रम करने पर बेचैनी का आरम्भ होता है, क्योंकि जब तक करने का अभिमान शेष रहता है, तब तक सच्ची व्याकुलता नहीं आती। करने का अभिमान तब मिटता है, जब प्राणी जो कर सकता है, उससे अपने को नहीं बचाता। साधारण प्राणी करने की शक्ति होते हुए भी अपने को निकम्मा बना लेते हैं और उस दोष को निरभिमानिता के नाम से प्रकाशित करते हैं। क्या आनन्द-घन-भगवान् हम से वह आशा करते हैं, जो हम नहीं कर सकते? क्या हम जो कर सकते हैं, उसके करने पर हमारे प्रेम-पात्र वह नहीं करेंगे, जो उनको करना चाहिये?

सच तो यह है कि हम अपने आपको तथा प्रेम-पात्र को धोखा देने का प्रयत्न करते हैं, बल होते हुए निर्बल बनते हैं, तथा निर्बल होते हुए भी बलवान के समान सन्तुष्ट रहते हैं। कर्त्तव्य-परायण प्राणी के जीवन में हार स्वीकार करने के लिये कोई स्थान नहीं होता। जिस प्रकार माँ को शिशु की सभी आवश्यकताओं का ज्ञान है, एवं शिशु के बिना कहे ही वह करती है, जो उसे करना चाहिये, उसी प्रकार आनन्द-घन-भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिये, परन्तु हम उनकी दी हुई शक्ति का सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटाने के लिये बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। आनन्द-घन भगवान् निरन्तर शक्ति प्रदान करने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु हम उनको सहायता

करने का अवसर नहीं देते।

छोटे से छोटे बच्चे को भी आवश्यकता होने पर बेचैनी होती है, परन्तु हम आवश्यकता होते हुए भी चैन से रहते हैं। हमें अपनी इस ईमानदारी पर विचार करना चाहिये कि हम कितना प्राकृत नियम के विरुद्ध करते हैं। गहराई से देखिये, आवश्यकता होने पर पशु-पक्षी भी चैन से नहीं रहते, फिर न मालूम अभागा चैन हमारे जीवन में कहाँ से आ गया। अतः हमको गम्भीरता पूर्वक अपने में से उस बनावटी चैन को निकाल देना चाहिये, जिसने आवश्यकता होते हुए भी हमें सन्तुष्ट-सा कर दिया है।

× × ×

जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है तथा जिनसे अपनत्व होता है, एवं जिनमें सर्वोत्कृष्टता जान पड़ती है, उनसे स्वाभाविक प्यार उत्पन्न हो जाता है, परन्तु प्रमादवश कभी कभी दोषयुक्त वस्तुओं से भी अपनत्व हो जाने पर, प्यार जैसा मोह होजाता है, जो निराशा-जनित दुःख उत्पन्न करता है। निराशा जनित दुःख उसे कहते हैं कि जिसकी पूर्ति की आशा न होने पर भी पूर्ति की रुचि रहती है। उस दुःख का विचारशीलोंने निरोध किया है। दुःख बड़ी ही अमूल्य वस्तु है, परन्तु आशा-जनित होना चाहिये। आशा-जनित दुःख उत्पन्न होने पर मोह से उत्पन्न होनेवाला दुःख मिट जाता है। प्रेम-पात्र की आवश्यकता प्रेम पात्र से भी अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि प्रेम-

पात्र की आवश्यकता सभी इच्छाओं के मिटाने तथा सभी मोह-जनित सम्बन्धों के विच्छेद करने में समर्थ है। यह भली प्रकार समझ लो कि 'है' 'नहीं' को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत प्रकाशित करता है, सत्ता देता है, परन्तु 'है' की आवश्यकता नहीं को खा जाती है और 'है' से अभेद करती है; अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेम-पात्र की आवश्यकता प्रेम-पात्र से भी अधिक महत्व की वस्तु है। यद्यपि सद्भाव-पूर्वक अपनत्व तथा सर्वोत्कृष्टता एवं आवश्यकता केवल एक मात्र 'है' को ही हो सकती है, परन्तु प्रमाद तथा आसक्ति-वश साधारण प्राणी उसको 'नहीं' अर्थात् शरीरादि वस्तुओं में देखने लगते हैं, जिससे निराशा-जनित दुःख उत्पन्न हो जाता है।

× × ×

प्रेमी सुने न और की, कहे न अपनी बात।
प्रेम-पात्र की प्रीति में, छको रहे दिन रात॥

× × ×

मेरे निज स्वरूप तपो-मूर्ति,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। अपने दुःख का कारण किसी अन्य को न समझो। बुराई का उत्तर भलाई से दो। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनको पवित्रता पूर्वक धर्मानुसार पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो। त्याग स्वतः उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। काम का अन्त होने पर राम स्वतः आ जाते हैं। जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपनाओ

एवं घटनाओं को भूल जाओ, वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने को सभी परिस्थितियों से असंग करलो। परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इतना ही नहीं परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति के सदुपयोग में स्वतन्त्रता भी अधिक है। त्याग का अभिमान राग का मूल है। इस गहन रहस्य को विचार-शील जानते हैं।

प्यारे, दुःख से डरो मत, प्रत्युत उस का सदुपयोग करो। यह भली प्रकार समझ लो कि जो प्राणी सद्भाव-पूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता; अतः 'मैं भगवान् का हूँ' यह महामन्त्र जीवन में घटा लो, अर्थात् उसके अनुरूप जीवन बना लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें सुलझ जायँगी। भगवान् का होने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

सभी विकासों का मूल त्याग है।

राम की कृपा राम से भी अधिक महत्व की वस्तु है, अतः उनकी कृपा की सतत प्रतीक्षा करते रहो। राम असत्य को सत्ता देकर प्रकाशित करते हैं। राम की प्रतीक्षा असत्य को खाकर राम से अभिन्न करती है। ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

—:०:—

१५-१०-४४

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यदि वे नहीं सुनते तो न सही, किन्तु दुखी के लिये कोई अन्य आश्रय भी तो नहीं है। अतः सब प्रकार से उनका ही होना पड़ेगा। हम अपने आप को धोखा देते हैं, वास्तव में सच्चाई के साथ उनके हो नहीं जाते। उनके हो जाने पर दुःख नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है। जिस प्रकार अग्नि सब प्रकार की लकड़ियों को अपना स्वरूप बना लेती है, उसी प्रकार दुःखहारी, पतित-पावन सर्व-समर्थ आनन्दघन भगवान् पतित से पतित प्राणी को भी अपना स्वरूप बना लेते हैं, परन्तु जब तक प्राणी उनके लिये उनका नहीं होता, प्रत्युत अनुकूल परिस्थिति के लिये होता है, तब तक दुःखी का दुःख जीवित रहता है, अर्थात् उनके पवित्र प्रेम से वह वंचित रहता है। प्रेम-पात्र का हो जाना मछली जानती है। आप उसकी ओर देखिये। मछली अपने प्रेम-पात्र (जल) के बिना कैसे रहती है? क्या करती है? प्रेम की महत्ता वही जानती है; अतः उससे प्रेम की दीक्षा लीजिये, उसके समान प्रेमाचार्य देखने में नहीं आया। मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिये कोई स्थान नहीं है। उन्नति से निराश होना परम भूल है। प्रेम-पात्र को अपने जीवन की वस्तु समझो। मां जब शिशु को

गोद में लेना चाहती है, तब उसके खिलौने छीन लेती है। प्रेम जैसे अलौकिक तत्त्व के लिये संसार में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि प्रेम प्रेम-पात्र की वस्तु है। आप गम्भीरता-पूर्वक अपनी दृष्टि से अपने को देखिए, यदि आप वास्तव में उनके हो गये हैं, तो दुख बुलाने पर भी नहीं आयेगा। जिस प्रकार सूर्य तथा अन्धकार का मिलन कभी होता ही नहीं, उसी प्रकार प्रेम-पात्र तथा दुःख का मिलन कभी होता ही नहीं। दुखी प्राणी अभागे नहीं होते। सच तो यह है कि अभागे वही हैं, जो सुखी हैं, क्योंकि दुःखी को आनन्दघन भगवान् मिलते हैं, सुखी को भोग। गहराई से देखिये, दुखी अर्जुन ने कृष्ण को लिया और सुखी दुर्योधन ने कृष्ण की सामग्री, किन्तु अन्त में विजय अर्जुन की हुई। हाँ दुखी उसी समय तक अभागा है, जब तक संसार की ओर देखता है। संसार से सच्ची निराशा होते ही दुःखहारी हरि दुःख अवश्य हर लेते हैं, ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

× × ×

१५-१०-४४

जिससे सभी को जानते हैं, उसका जानना ही वास्तव में 'जानना' है, क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाश नित्य तत्त्व है, किसी व्यक्ति का गुण नहीं। उससे अभिन्नता होने पर ही तत्त्व-ज्ञान होता है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-जन्य जानकारी सतत परिवर्तनशील है, अतः इन्द्रिय आदि के भाव को तत्त्व-ज्ञान नहीं कह सकते।

आस्तिकता आ जाने पर संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, परतन्त्रता सदा के लिये विदा हो जाती है।

प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। अनेक प्रवृत्तियां एक ही अर्थ में विलीन होती हैं।

जीवन की प्रत्येक घटना प्रेमपात्र की ओर ले जाती है।

त्रुटि वही है, जो करनेवाले को दिखाई दे। दोष वही है, जो करनेवाले को मालूम हो, क्योंकि ऐसा कोई दोष नहीं होता, जो दोषी स्वयं नहीं जानता, सुखासक्ति के कारण निज जानकारी का निरादर करता है। जो निज ज्ञान का आदर नहीं करता, वह किसी अन्य के ज्ञान का आदर कदापि नहीं कर सकता, अतः पराये दोष देखने का स्वभाव मिटा दो।

× × ×

१५-१०-४४

प्यारे, प्रत्येक मिठाई में मीठापन एकमात्र चीनी का ही होता है, अतः जहाँ कहीं भी जिस किसी को जो कुछ ऐश्वर्य तथा माधुर्य एवं सौन्दर्य प्रतीत होता है, वह उसी अनन्त सौन्दर्य की छाया मात्र है। प्यारे, छाया की ओर दौड़ने से प्राणी सूर्य से भी विमुख हो जाता है और छाया को भी नहीं पकड़ पाता और सूर्याभिमुख होते ही छाया भी पीछे दौड़ती है और सूर्य का प्रकाश भी मिलता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो प्राणी अनन्त नित्य-सौन्दर्य को त्याग, सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य की ओर दौड़ता है, वह न तो

परिवर्तनशील सौन्दर्य को पाता है और न अनन्त नित्य-सौन्दर्य को पाता है, अर्थात् परिवर्तनशील सौन्दर्य की ओर दौड़नेवाला काम तथा राम किसी को भी नहीं पाता। अतः प्रेमियों को सब प्रकार से केवल प्रेम-पात्र का ही होना चाहिये। उनका हो जाने पर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। उनका होने के लिये क्या संसार की सहायता की आवश्यकता है? कदापि नहीं, अर्थात् प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक उनका हो सकता है, क्योंकि जिससे जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता होती है, उससे अभिन्न होने के लिये एकमात्र सद्भाव ही साधन है। सद्भाव कर्त्ता के स्वीकार करने की वस्तु है, अतः प्रत्येक साधक स्वतन्त्रता पूर्वक सर्व-समर्थ आनन्दघन भगवान् का हो सकता है।

× × ×

हम लोग बड़ी भूल यही करते हैं कि सभी कामों को समान नहीं जानते, अर्थात् सद्भाव पूर्वक प्रेम-पात्र के होकर प्रत्येक कार्य से उनका पूजन नहीं करते, इस कारण क्रिया भेद होने पर प्रीति भेद तथा लक्ष्य भेद भी हो जाता है, जिससे किसी कार्य में प्रियता और किसी में अप्रियता उत्पन्न हो जाती है एवं हृदय में राग-द्वेष की अग्नि जलने लगती है। राग-द्वेष-युक्त प्राणी काम के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता।

प्यारे, भक्त के जीवन में अपना कुछ नहीं रहता, अतः उसका प्रत्येक कार्य प्रेम-पात्र को पूजन की सामग्री हो जाता है। क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता और न लक्ष्य-भेद होता है। परीक्षा की पुस्तकों को प्रेम-पात्र के पूजन का

फल बनाओ। मां उसी बालक से प्रसन्न रहती है, जो बालक मां की दी हुई आज्ञा का पालन करता है, अथवा मां की कृपा की प्रतीक्षा करता है। कृपया बालक की ओर देखिये, बालक के सामने जो खेल आता है, उसीको खेलता है। काम को बोझ मत समझो, वरन् प्रेम-पात्र का पूजन समझो। प्यारे, प्रत्येक प्राणी को अनेक अनेक स्थान पर आदर्श अभिनय-कर्ता (Good Actor) होना चाहिये।

संसार की दासता मन से निकाल दो, यही त्याग है। संसार से अपना मूल्य बढ़ा लो, यही तप है। सब प्रकार से प्रेम-पात्र के हो जाओ, यही भक्ति है। अपना प्रसन्नता के लिये किसी अन्य की ओर मत देखो, यही मुक्ति है।

× × ×

१५-१०-४४

रोग का भय मत करो। रोग भगवान् संयम का पाठ पढ़ाने के लिये आते हैं। मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता ज्यों ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों त्यों आरोग्यता स्वतः आती जायगी, क्योंकि मन तथा प्राणका घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः मन के स्वस्थ होने से शरीर भी स्वस्थ हो जाता है, वास्तव में तो शरीर-आसक्ति ही परम रोग है। विचारशील अपने को शरीर से असंग कर सभी रोगों से मुक्त कर लेते हैं। रोग भोग का त्याग कराने के लिये आता है। इस दृष्टि से रोग भोग की अपेक्षा अधिक महत्व की वस्तु है। विचारशील को आए हुऐ रोग का सदुपयोग करना चाहिये।

१५-१०-४४

प्राकृतिक विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है, अतः प्रत्येक प्राणी में आवश्यक शक्ति विद्यमान है। बुद्धि भले ही अल्प हो, किन्तु बुद्धि जिस देव की छाया मे रहती है, वह अनन्त है, अर्थात् अनन्त में ठहरी हुई बुद्धि सभी आवश्यक कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकती है। हाँ, जब बुद्धि मन और इन्द्रियों के आधीन हो जाती है, तब अवश्य पतन की ओर जाती है। प्यारे, इच्छाये अनेक नहीं होतीं। भोगेच्छा तथा आनन्द की आवश्यकता प्राणी में उपस्थित है। भोगेच्छा स्थान-भेद से कई प्रकार की प्रतीत होती है। वास्तव में तो क्रिया जन्य रस की आसक्ति तथा संयोग की दासता का नाम ही भोग है, अर्थात् जो रस क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है, उसके लिये किसी न किसी प्रकार के सयोग अर्थात् सगठन की आवश्यकता होती है। जो इस संयोग से उत्पन होता है, उसका नाम ही भोग है। जब प्राणी संयोग में वियोग देखने लगता है, तब संयोग से उत्पन्न होनेवाला रस उस पर शासन नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यो संयोग मे वियोग का भाव दृढ़ होता जाता है, त्यों त्यों भोगेच्छा स्वतः आनन्द की आवश्यकता मे उसी प्रकार विलीन होती जाती है, जिस प्रकार प्रत्येक लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अतः जिस काल मे आनन्द की आवश्यकता भोगेच्छा को खा लेती है, उसी काल में आनन्दघन भगवान् स्वतः अपना लेते हैं। प्यारे, भोगेच्छा

आनन्द की आवश्यकता को मिटा नहीं पाती, प्रत्युत ढक लेती है, किन्तु आनन्द की आवश्यकता भोगेच्छाओं को खाकर आनन्द से अभिन्न कर देती है। साधारण प्राणी आनन्द की आवश्यकता को वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की इच्छाओं में बदल देते हैं। बस, यही प्रमाद है। प्राणी की वास्तविक आवश्यकता कोई वस्तु विशेष नहीं है, क्योंकि प्राणी कालान्तर में सभी वस्तुओं का त्याग कर देता है, अथवा सभी वस्तुयें उसका त्याग कर देती हैं। हमारा वही है, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वस्तु प्राणी की वास्तविक आवश्यकता नहीं है। वास्तविक आवश्यकता तो एक मात्र नित्य-जीवन, (Eternal Life) नित्य-रस एवं नित्य प्यार की है।

× × ×

यदि प्राणी बनाये हुए सभी विश्वासों को निकाल देवे, तो वास्तविक विश्वास स्वतः आ जाता है। प्यारे, जो 'है', उसके लिये किसी की गवाही एवं किसी विश्वास की आवश्यकता नहीं है। जो 'नहीं' है, उसमें सत्यता केवल एकमात्र विश्वास की है, संसार के सभी सम्बन्ध एवं सभी स्वीकृतियाँ केवल माने हुए विश्वास के आधार पर जीवित हैं। संसार की स्वीकृतियों को निकाल देने पर निर्वासना (Desirelessness) अपने आप आ जाती है। निर्वासना आते ही बुद्धि सम अर्थात् निरोध को प्राप्त होती है। बुद्धि के सम होते ही मन इन्द्रियाँ

आदि सभी यंत्र निर्विषय हो जाते हैं। यंत्रो (मन इन्द्रिय आदि) के निर्विषय होते ही जगत् की सत्ता प्रतीत नहीं होती। जगत् की सत्ता का अभाव होते ही 'है' का ज्ञान स्वयं हो जाता है, क्योंकि अस्ति तत्त्व का कभी अभाव नहीं होता, परन्तु 'नहीं' की आसक्ति 'है' की आवश्यकता जाग्रत नहीं होने देती, प्रत्युत 'नहीं' की वासनाओं को जीवित रखती है। 'है' नहीं को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है। 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खाकर 'है' से अभिन्न करती है। प्राणी 'है' से अभिन्न होकर ही 'है' को जानता है। अतः 'है' के जानने के लिये मन, बुद्धि आदि बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है। जो मन-बुद्धि आदि को जानता है, मन बुद्धि आदि उसे नहीं जान सकते। मन बुद्धि आदि से असंग होकर जिज्ञासु तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न होता है। मन बुद्धि आदि का उपयोग दृश्य की वास्तविकता जानने में है, तत्त्व-ज्ञान में नहीं। अतः मन बुद्धि आदि द्वारा राग-द्वेष मिटाने का प्रयत्न करो। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ मन मे, मन बुद्धि में, बुद्धि अहंभाव में विलीन हो जावेगी। जिस प्रकार वर्फ नदी वनकर समुद्र से अभिन्न होती है, उसी प्रकार सीमित अहंभाव जिज्ञासा बनकर तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न होता है, यह निर्विवाद सत्य है। अतः असत्य द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न मत करो, प्रत्युत असत्य को त्याग, सत्य से अभिन्न हो जाओ।

× × ×

देहली
१५-७-४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

दुखी प्राणी को केवल दुःखहारी हरि का होकर रहना चाहिये। सच्चा त्याग कल्पतरु के समान है। जिस मन से शरीर आदि वस्तुओं का ध्यान निकल जाता है, उस मन में भगवद् ध्यान स्वतः होने लगता है, क्योंकि वस्तुओं के ध्यान ने भगवद् ध्यान से विमुख किया है। जिस अहंता से सभी सम्बन्ध तथा स्वीकृतियाँ निकल जाती हैं, उस अहंता में आनन्दघन भगवान् निवास करते हैं। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। निरन्तर प्रेम-पात्र का चिन्तन करते रहो, अथवा उनके समर्पण हो अचिन्त हो जाओ।

जिस प्रकार तृषावन्त प्राणी को जल न मिलने पर जल की अभिलाषा स्वतः उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, उसी प्रकार सच्चे प्रेमियों के हृदय-में प्रेम-पात्र के मिलने की अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यह भली प्रकार समझ लो कि सुख का राग मिटाने और असार-संसार से ऊपर उठाने के लिये ही दुःख आता है, अतः दुःखी प्राणियों को संसार की आशा नहीं करनी चाहिये। ज्यों-ज्यों चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता, मन में स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्तियों का विकास स्वतः होता जाता है। निर्वासना आने पर

चित्त म प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और मन में स्थिरता स्वतः आ जाती है। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रेम-पात्र का हो जाने पर निर्वासना आ जाती है।

वासनाओं का त्याग हो जाने पर हृदय प्रेम-पात्र के रहने के योग्य बन जाता है। वासनाओं की मलिनता प्रेम-पात्र से मिलने नहीं देती। अपने बिगड़े हुए स्वभाव पर बलपूर्वक शासन करो, अर्थात् उसको बदल दो। अपने दोष तथा दूसरों के गुण देखने का प्रयत्न करो। अपने गुण तथा दूसरों के दोष स्वप्न में भी मत देखो। अपनी निर्बलताओं को देखकर उनको पुनः न होने देने का दृढ़ संकल्प करो। और दुखी हृदय से प्रेम-पात्र से प्रार्थना कर अचिन्त हो जाओ। निर्बलताओं का चिन्तन मत करो। मानव-जीवन घोर प्रयत्न के लिये मिला है, अतः हार स्वीकार न करो। अनेक बार असफलता होने पर भी सफलता के लिये घोर प्रयत्न करना चाहिये। राग-द्वेष को मिटा कर हृदय मे त्याग-प्रेम की गंगा लहरानी चाहिये। त्याग से राग और प्रेम से द्वेष मिट जाता है।

ओ३म् ओ३म् ओ३म्
आपका अभेद स्वरूप

× × ×

सेवा करने का सौभाग्य भगवान् की विशेष कृपा होने पर ही मिलता है। आप की पवित्रता परम आदरणीय है कि आप के मन में सेवा करने की रुचि है। सेवा करने की योग्यता

त्याग के बिना नहीं आती। जो प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिये संसार की ओर नहीं देखता वही सेवा कर सकता है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न समझना ही सच्चा त्याग है।

× × ×

१८—१०—४४

संसार उसी को प्यार करता है, जो संसार के काम आता है। संसार के काम वही प्राणी आता है, जो सब प्रकार से भगवान् का हो जाता है।

जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है, ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

× × ×

जब प्राणी सुख आने पर वह नहीं करता जो करना चाहिये, तब दुःख अपने आप आ जाता है। दुःख जीवन की आवश्यक वस्तु है। दुःख प्राणी को त्याग का पाठ पढ़ाने के लिये आता है। ज्यों ज्यों त्याग बढ़ता जाता है, त्यों त्यों दुःख अपने आप मिटता जाता है।

× × ×

१८-१०-४४

सब प्रकार से आनन्दघन भगवान् का हो जाना ही वास्तव में भगवत्सेवा है। शरीर आदि वस्तुओं के द्वारा तो केवल संसार की सेवा हो सकती है, क्योंकि शरीरादि सभी वस्तुओं

की संसार से अभिन्नता है। प्रेमी अपने द्वारा प्रेम-पात्र की सेवा करता है, अर्थात् अपने मे प्रेम-पात्र की स्थापना कर मन इन्द्रियाँ आदि सभी सामग्री को उनके समर्पण कर अचिन्त हो जाता है। ऐसा करने से शरीर विश्व सेवा के योग्य एवं अहंभाव प्रेम-पात्र की सेवा के योग्य वन जावेगा। जिस प्रकार मिट्टी कुम्हार की होकर, कुम्हार की योग्यता से कुम्हार के काम आती है, एवं उसका प्यार पाती है, उसी प्रकार प्रेमी प्रेम-पात्र का होकर उनके अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से प्रेम-पात्र के काम आता है, एवं उनका प्यार पाता है।

× × ×

२२-१०-४४

प्र०—जो बुद्धि ने समझा है, उसके अनुरूप मन क्यों नहीं होता ?

उ०—यह प्राकृतिक विधान (Universal Law) है कि जो वर्तमान में व्याकुलता है, वही भविष्य में सफलता है। मन की खुराक रस है, जब उसको इन्द्रियों के रस मे प्रियता नहीं रहती, अर्थात् उसमें दोष दिखाई देने लगते हैं, तब मन उसे अपना-लेता है, जो बुद्धि ने यथार्थ समझा है। मन बुद्धि और इन्द्रियो के वीच में रहता है। उसे इन्द्रियों की ओर से विमुख कर दो। वस उसी काल में बुद्धि के अनुरूप हो जायगा। यदि साधक ऐसा न कर सके, तो इन्द्रियों के द्वारा मन को बुद्धि ने जो समझा है, उसके अनुरूप व्यवहार में लगा दो, अर्थात् सेवा कार्य मे लगा दो। जव प्राणी संसार से अपना काम लेना

चाहता है, तब मन इन्द्रियों का दास हो जाता है; परंतु जब प्राणी संसार के काम आने का प्रयत्न करता है, तब मन इन्द्रियों की दासता से स्वतः छूट जाता है, क्योंकि ज्यों ज्यों सेवा-भाव बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्वार्थ-भाव स्वतः गलता जाता है। ज्यों ज्यों स्वार्थ-भाव गलता जाता है, त्यों त्यों इन्द्रिय-जन्य रस नीरस होता जाता है। ज्यों ज्यों इन्द्रिय-जन्य रस नीरस होता जाता है त्यों त्यों मन बुद्धि के अनुकूल होता जाता है। इन्द्रियाँ मन को सदोष सत्ता की ओर ले जाती हैं और बुद्धि मन को निर्दोष सत्ता की ओर संकेत करती है।

सच तो यह है कि ज्यों ज्यों संसार के काम न आने की व्याकुलता तथा प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने की व्याकुलता एवं अपने आप को न जानने की व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों सभी दोष अपने आप मिटते जाते हैं। व्याकुलता रहित सभी साधन यंत्रवत् हैं।

× × ×

आस्तिकता आजाने पर भय तथा चिन्ता के लिये कोई स्थान नहीं रहता। भक्त के जीवन में सभी गुण बिना ही प्रयत्न आजाते हैं, क्योंकि भक्त आनन्दघन भगवान् (अर्थात् निर्दोष तत्त्व) से विभक्त नहीं होता। जो विभक्त नहीं होता उसमें किसी दोष की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सभी दोषों का मूल अस्ति-तत्त्व से विभक्त होना है। भक्त होने में मानव सर्वदा स्वतंत्र है, जो किसी और का होकर नहीं रहता वह भक्त होने

का अधिकारी है। भक्त होने के लिये सभी स्वीकृति-जन्य सम्बन्धों का विच्छेद करना परम अनिवार्य है। सभी सम्बन्ध अपने बनाये हुए हैं। अपनी बनाई हुई वस्तु को मिटाने में प्राणी स्वतंत्र है। यदि राग के कारण सम्बन्धविच्छेद का बल न हो, तो धर्मानुसार की हुई स्वीकृति के अनुरूप जीवन होना चाहिये। स्वीकृति के अनुरूप जीवन होने पर स्वीकृतिजन्य गुण-दोष का यथार्थ ज्ञान हो जावेगा। यह नियम है कि अनुकूल ज्ञान में प्रवृत्ति और प्रतिकूल ज्ञान से निवृत्ति स्वतः हो जाती है। प्रत्येक प्रवृत्ति की सार्थकता स्वाभाविक निवृत्ति तथा राग रहित होने के लिए ही है। स्वाभाविक निवृत्ति आजाने पर प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम को पाता है

× × ×

१८-१०-४४

जब तक प्राणी में किसी प्रकार का सीमित अहंभाव रहता है तब तक किसी न किसी प्रकार के दोष का उत्पन्न होना अनिवार्य है। मुनियों मे मुनि होने का भाव, ज्ञानियों में ज्ञानी होने का भाव, भक्तों में भक्त होने का भाव, जब तक जीवित रहता है, तब तक निर्दोषता से एकता नहीं होती, प्रत्युत सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध होते ही दोष मिटने लगते हैं; गुण प्रकाशित होने लगते हैं, किन्तु जब प्राणी उन गुणों का उपभोग करने लगता है, तो उसी काल गुण छिपने लगते हैं और उसी दशा मे गुणों का अभिमान मुनियां मे भी क्षोभ उत्पन्न करता है, यद्यपि उस

क्षोभ से मुनियों का अहित नहीं होता, प्रत्युत हित ही होता है, क्योंकि मुनि होने का अहं-भाव गल जाता है। सब प्रकार के अभिमानों के गल जाने पर सभी दोष समूल नष्ट हो जाते हैं। दोष निर्दोषता को किसी भी काल में मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है, किन्तु निर्दोषता दोष को खा लेती है।

उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। कभी दोष को दिखाकर निर्दोष बनाते हैं, कभी दोषी बनाकर निर्दोषता का अभिमान गलाते हैं, यह उनकी लीला है। अतः उनके होकर उनकी कृपा की प्रतीक्षा सतत करते रहो, क्योंकि उनकी अहैतुकी सर्व-समर्थ पतित-पावनी सुधा-मयी कृपा उनको तथा उनकी माया को मोहित करने में सर्वदा समर्थ है।

× × ×

२६—१०—४४

जब प्राणी को अपनी दृष्टि से अपने दोष का ज्ञान हो जाता है, बस उसी काल में दोष-निवृत्ति की शक्ति स्वतः आ जाती है, क्योंकि जिस ज्ञान से दोष दिखाई देता है, उसी ज्ञान से निर्दोषता की आवश्यकता जाग्रत होती है। ज्यों ज्यों निर्दोषता की आवश्यकता प्रबल होती जाती है, त्यों त्यों दोष स्वतः मिटते जाते हैं। प्यारे, दोष अनेक नहीं होते, एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।

सभी दोषों का मूल एक मात्र यही है कि संसार मेरे काम आ जावे। उसके मिटाने का सुगम साधन यही है कि मैं

संसार के काम आ जाऊँ। जब प्राणी संसार में संसार के लिये रहने लगता है, तब अन्तःकरण स्वतः शुद्ध होने लगता है। जब प्राणी अपनी पूर्ति के लिये संसार की ओर नहीं देखता, तब संसार के काम आने की योग्यता स्वतः आ जाती है। उस मिली हुई योग्यता का सदुपयोग करने पर प्राणी योग्यता के सम्बन्ध से भी मुक्त हो जाता है और योग्यता का सदुपयोग करने पर योग्यता की दासता उत्पन्न हो जाती है तथा कालान्तर मे योग्यता भी छिन जाती है, क्योंकि प्राकृतिक-विधान (Universal law) उस योग्यता को छीन लेता है, जो दुखियो के काम नहीं आती। अतः संसार से असंग होने पर भगवान् की कृपा से जो योग्यता मिले उसे विश्व-सेवा में लगा दो। ऐसा करने से साधक अपने में ही अपने प्रीतम को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। संसार के काम न आने की व्याकुलता तथा प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने की व्याकुलता एवं अपने आपको न जानने की व्याकुलता ज्योंज्यों बढती जाती है, त्यों त्यों सभी विकार अपने आप मिटते जाते हैं, क्योंकि वर्तमान की व्याकुलता भविष्य की सफलता होती है।

× × ×

१५—१०—४४

अपने दुःख का कारण किसी अन्य को कभी मत समझो, क्योंकि दुःख वास्तव में दुखी की भूल से होता है। यदि स्वीकार किये हुए भाव के अनुरूप प्रवृत्ति नहीं कर सकते,

तो उस स्वीकृति का त्याग कर दो, परन्तु स्वीकृति के विपरीत चेष्टा मत करो, क्योंकि कुछ न करने से हानि नहीं होती, प्रत्युत विपरीत करने से हानि होती है। पापी के मिटाने के लिये उसका पाप ही काफी है, अर्थात् पाप स्वयं पापी को मिटा देगा। सबसे बड़ा प्रयत्न यही है कि पापी से सम्बन्ध-विच्छेद कर दो। बुराई का उत्तर बुराई से देना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता, क्योंकि उससे दोनों की हानि ही होती है। प्राणी स्वयं बुरा होकर बुराई करता है। अतः बुराई का उत्तर बुराई के द्वारा देने के लिये स्वयं अपने को बुरा बनाना पड़ेगा। इस कारण विचार-शील प्राणी को बुराई का उत्तर बुराई से नहीं देना चाहिये। आपका पवित्र हृदय प्रेम का भूखा है। कामना-युक्त प्राणियों से प्रेम की आशा परम भूल है। प्रेम करना तो केवल एक मात्र श्यामसुन्दर ही जानते हैं। आप उनके होकर रहो, उनके पवित्र प्रेम की प्रतीक्षा करो कामना-युक्त प्राणियों से प्रेमकी आशा न करो, अर्थात् उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो। स्वधर्म-निष्ठ सम्बंधियों की यथा-शक्ति प्रेम-पात्र के नाते सेवा करती रहो, अर्थात् शरीर विश्व की सेवा में लगा रहे और हृदय प्रेम-पात्र के प्रेम से छका रहे।

× × ×

प्र०—निर्दोष तथा पवित्र जीवन होने का सुगम उपाय क्या है ?

उ०—तत्त्व-दृष्टि से निर्दोषता स्वाभाविक है और दोष प्राणी की बनाई हुई वस्तु है। जो बनाई हुई वस्तु होती है, वह अस्वाभा-

विक (Artificial) होती है। अस्वाभाविक प्रवृत्ति अनायास अर्थात् स्वतः नहीं हो जाती। उसके लिये अनेक वार संकल्प-विकल्प करने पड़ते हैं। यह नियम है कि जब तक संकल्प दृढ़ नहीं होता, तब तक संकल्प प्रवृत्ति के स्वरूप में नहीं आता। इस से यह भलीप्रकार सिद्ध हो जाता है कि पवित्र प्रवृत्ति के लिये पवित्र संकल्प का दृढ़ होना परम अनिवार्य है। पवित्र संकल्प की दृढ़ता के लिये अपवित्र संकल्प का अभाव होना परम आवश्यक है, अर्थात् अपवित्र संकल्पों का अन्त करने पर ही पवित्र संकल्प उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि दोष मिटने पर ही गुण उत्पन्न होता है। दोष होते हुए गुणों का लेप चढ़ाना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। अतः मन में उन संकल्पों को मत उठने दो, जो धर्मानुसार न हो, एवं जिनके प्रकाशित करने में संकोच हो। मन में उन्हीं संकल्पों को उत्पन्न होने दो जिनको माता पिता तथा गुरु-जनों के सामने स्वतंत्रता-पूर्वक निर्भयता से प्रकाशित कर सकते हो। इस सुगम उपाय से सभी अपवित्र प्रवृत्तियों का नितांत अन्त हो जावेगा। यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

× × ×

प्र०—मित्रता किसके साथ की जा सकती है?

उ०—मित्रता उसी के साथ की जा सकती है, जिससे जातीय एकता हो (अर्थात् स्वरूप से एकता और भाव तथा गुणों की भिन्नता हो) और मानी हुई भिन्नता हो। शरीर की विश्व के

साथ जातीय एकता एवं मानी हुई भिन्नता है। जीव की ईश्वर के साथ जातीय एकता एवं मानी हुई भिन्नता है। गुरु की शिष्य के साथ जातीय एकता और मानी हुई भिन्नता होती है। (शरीर-प्रेम, विश्व-प्रेम-पात्र। जीव-प्रेमी, ईश्वर-प्रेम-पात्र। शिष्य प्रेमी, गुरु प्रेम-पात्र।) अतः सच्ची मित्रता इन्हीं तीन स्थलों में हो सकती है। परन्तु व्यवहार कोटि में दो सखाओं, दो सखियों एवं पति-पत्नी में हो सकती है, क्योंकि मित्रता का अर्थ भिन्नता न रहना है। व्यवहार दृष्टि से इन्हीं तीनों स्थलों के अतिरिक्त और सभी के साथ समाज एवं संस्कृति के नियम के अनुसार नाता हो सकता है। नाता संस्कृति के अनुसार भाव है, भिन्नता नहीं। नाता तथा भिन्नता में केवल इतना अन्तर है कि नाते के अनुरूप सीमित क्रिया की जा सकती है। हाँ यह अवश्य है कि क्रिया भेद होने पर भी विचारशील प्रीति-भेद नहीं करते। नाता क्रिया-जन्य रस की आसक्ति मिटाने के लिये अर्थात् क्रिया को भाव में बदलने के लिये संस्कृति के अनुसार साधन-मात्र बनाया जाता है, अर्थात् नाता स्वीकार करने पर क्रिया इन्द्रियों के स्वभावानुसार नहीं होती, प्रत्युत धर्मानुसार स्वीकृति के अनुरूप होती है। इन्द्रियों के स्वभावानुसार चेष्टायें पशु कोटि के प्राणियों में देखने में आती हैं। मनुष्य कोटि में धर्मानुसार भाव-जन्य क्रिया की जाती है, क्योंकि धार्मिक संस्कृति क्रिया जन्य रस को (इन्द्रियों की दासता को) मिटाने में समर्थ है। मनुष्य-जीवन, क्रिया के जीवन (पशु कोटि के

जीवन) से भाव के जीवन में बदलने के लिये परमावश्यक है। जब भाव का जीवन सिद्ध हो जाता है, तब भाव के जीवन से ज्ञान के जीवन में बदलने के लिये ऋषि-जीवन का आरम्भ होता है। ऋषि-जीवन के आजाने पर जीवन की पूर्णता एवं सार्थकता सिद्ध होती है, अर्थात् प्रेमी प्रेम-पात्र से अभेद हो कृत-कृत्य हो जाता है। प्रेमी और प्रेम-पात्र की अभेदता सिद्ध करने के लिये मित्रता का होना परम अनिवार्य है। अतः यह बात अनेक उक्तियों एवं जीवन की अनेक अनुभूतियों से भली प्रकार निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि तत्त्व-दृष्टि से मित्रता उपरोक्त तीन स्थलों में ही हो सकती है और व्यवहार दृष्टि से दो सखाओं मे, दो सखियों में एवं पति-पत्नी में ही हो सकती है। सखा एवं सखियों की मित्रता का अर्थ एक दूसरे की हितकारी क्रियाओं का करना है। पति-पत्नी की मित्रता का अर्थ छिपे हुए काम की निवृत्ति करने का है। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि पति-पत्नी की मित्रता नित्य मित्रता है। वह केवल छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये एवं सीमित काल के लिये स्वीकार की जाती है, क्योंकि धर्मानुसार की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति उत्पन्न कर देती है। स्वाभाविक निवृत्ति आजाने पर सच्ची मित्रता करने की योग्यता आजाती है। व्यावहारिक मित्रता योग्यता संपादन करने का साधन-मात्र है, जीवन नहीं। मित्रता का वास्तविक रस उपरोक्त तीन स्थलो पर ही प्राप्त होता है। व्यावहारिक जीवन में नाते का स्थान बड़ा ही

सुन्दर है। उससे जीवन में सामाजिक दोष, एवं सामाजिक पतन कदापि नहीं होता, अर्थात् सामाजिक दोषों की निवृत्ति के लिये नाते का आदर करना परम अनिवार्य है। छिपी हुई आसक्ति के आवेश में आकर युवक एवं युवतियाँ मन को पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंग कर, नाते के स्थान को मिटा कर, तथा बनावटी मित्रता को स्थापित कर इन्द्रिय-लोलुपता की पूर्ति करने का प्रयत्न कर, समाज में अनेक दोष उत्पन्न कर देते हैं और अंत में स्वयं बिचारे घोर दुखी होते हैं। अतः यह अखंड सत्य है कि मित्रता उसी के साथ की जा सकती है, जिससे जातीय एकता और मानी हुई भिन्नता हो।

× × ×

८—७—४४

दुःख भरा पत्र मिला। प्रिय जनों के वियोग से भयंकर वेदना अनिवार्य है, परन्तु वियोग की वेदना से बचने के लिये मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। विधाता का विधान न्याय-पूर्ण है, परन्तु हम आसक्ति-वश उस विधान को अन्याय मान लेते हैं। हम सार्वभौम (Universal) होते हुए भी अपने को किसी न किसी सीमा में आबद्ध कर लेते हैं। इसी कारण हम को ऐसी घटनाओं का दुःख होता है। सीमा में आबद्ध हुए बिना प्राणी उपभोग नहीं कर सकता, अर्थात् वस्तुओं के संयोग से सुख का आस्वादन नहीं कर पाता, क्योंकि विश्व के साथ एकता स्वीकार करने पर तो वियोग-जनित घटनायें निरंतर होती

ही रहती हैं, परन्तु हमारे मन पर उन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं होता। हम देखते हुए भी नहीं देखने के समान रहते हैं, परन्तु जब हमारे माने हुए संघटन में कोई ऐसी घटना हो जाती है, तब हृदय में बेचैनी उत्पन्न हो जाती है और हम विधाता के विधान को अन्याय कहने लगते हैं। यह हमारी भोगासक्ति की महिमा है। वियोग ने संयोग के रस को खा लिया और नित्य योग की आवश्यकता जाग्रत कर दी। नित्य-योग की आवश्यकता नित्य-योग से भी अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि नित्य-योग की आवश्यकता संयोग मे वियोग देखने की शक्ति प्रदान करती है। संयोग में वियोग अनुभव करते ही नित्य-योग स्वयं आ जाता है। जो प्राणी वियोग आने पर भी संयोग की इच्छा तथा चिन्तन करता है, उसको वियोग-जनित अनेक वेदनायें सहन करनी पड़ती है। जो प्राणी वियोग होने पर संयोग की इच्छा नहीं करता, उसको वियोग आनन्दघन भगवान् से अभिन्न कर देता है। जिस संयोग की कृपा से हम शरीर तथा वस्तु आदि के दास बन जाते हैं, वह संयोग तो हम को प्यारा लगता है और जिस वियोग की कृपा से हम अपने में ही सब कुछ पा लेते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं। यदि वियोग का तिरस्कार नहीं करते, तो उसके आने पर दुखी क्यों होते? यदि संयोग को प्यार नहीं करते, तो उसके जाने पर भी उसका चिन्तन क्यों करते हैं? न मालूम कब तक हम संयोग की दासता एवं वियोग का तिरस्कार करते रहेंगे, अर्थात् वह

कौन सा दिन होगा कि जब हम अपने पर अपनी कृपा कर अपने को संयोग की दासना से और वियोग के भय से छुटकारा पाने के लिये अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करेंगे? यह निःसन्देह सत्य है कि मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति अपने आप आ जाती है। अतः मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिये कोई स्थान नहीं है।

× × ×

५-१०-४४

संसार के काम न आने का दुःख, प्रेम-पात्र का प्रेम न मिलने का दुःख, अपने आप को न जानने का दुःख ये तीनों प्रकार के दुःख ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों सभी निर्बलतायें स्वयं मिटती जाती है।

साधारण प्राणी जब सीमित तथा परिवर्तनशील सुखों से सन्तुष्ट होने लगता है, तब आलस्य, अकर्मण्यता तथा प्रमाद अपने आप आजाता है। बड़े बड़े भोगों की इच्छा ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कर्मशीलता अर्थात् शुभ कर्मों में रुचि बढ़ती जाती है। आस्तिकता आते ही कर्म की रुचि सेवा में बदल जाती है, और सेवा त्याग में विलीन हो परम-तत्त्व से अभिन्न कर देती है।

× × ×

२-११-४४

मानव-जीवन की सार्थकता यही है कि शरीर विश्व के काम आता रहे, तथा हृदय प्रेम पात्र की प्रीति से छका रहे, एवं

अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव हो। जब तक ऐसा न हो, तब तक न होने की व्याकुलता की अग्नि उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती रहे।

प्राणी जिसको अपने जीवन की वस्तु मान लेता है, उसके न होने की व्याकुलता स्वतः होने लगती है। व्याकुलता उसी के लिये नहीं होती, जिसको हम वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं मानते।

जो प्राणी अपने स्थान पर ठीक रहता है, उसकी सेवा अनंत शक्ति (Universal Energy) स्वतः करने लगती है। सब प्रकार से उनका होजाने पर अचिन्तता एवं अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा स्वतः होने लगती है। अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करने से और प्राप्त वस्तुओं को अपना न समझने से सभी निर्बलतायें निर्जीव हो जाती हैं।

× × ×

१७—११—४४

जिसे ध्रुव सत्य समझा है, उसका आदर करो, केवल कथन न करो। भगवान् की कृपा सर्वत्र सर्वकाल में विद्यमान है, किन्तु उसकी अनुभूति केवल कृपा-पात्र होने पर ही होती है। निःसन्देह भगवान् की कृपा का बल भगवान् को तथा उनकी गुण-मयी माया को मोहित करता है, अर्थात् कृपा-पात्र पर किसी भी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का शासन नहीं होता। अनन्त-काल की निर्बलतायें उसी काल में मिट जाती हैं, जिस

काल में साधक सद्भाव-पूर्वक भगवान् का हो जाता है। उनका होने के लिये केवल मिली हुई योग्यता का सदुपयोग करना है। विचारशील दोष को देख कर दोष का त्याग करते हैं, अपने को दोषी नहीं मानते, प्रत्युत अपने में निर्दोषता की स्थापना कर अभय हो जाते हैं। दोष का ज्ञान दोष के त्याग में समर्थ है, क्योंकि जिस ज्ञान से दोष दिखाई देता है, उसी से निर्दोषता की आवश्यकता स्वतः जाग्रत हो जाती है, एवं दोषों के त्याग की शक्ति भी आ जाती है। परन्तु साधारण प्राणी केवल बुद्धि के व्यापार से गुण दोष का चिन्तन करते हैं। चिन्तन एक प्रकार की क्रिया विशेष है। क्रिया-जन्य रस सभी दोषों का मूल है, अतः ऐसी दशा में वह दोषों को दोष जान लेने पर भी दोष के त्याग में असमर्थ तथा निर्दोष को निर्दोष जानने पर भी उसके अपनाने में विवश हो जाता है। इस कारण विचारशील साधक को दोप को दोष जानते ही दोप का त्याग कर देना चाहिये और अपने में निर्दोषता की स्थापना कर अचिन्त हो जाना चाहिये। यह नियम है कि जिस भाव का सम्बन्ध अहंभाव से हो जाता है, उस भाव में सत्यता तथा प्रियता स्वतः उत्पन्न हो जाती है। अतः निर्दोषता की प्राप्ति के लिये अहंभाव में निर्दोषता का स्थापित होना परम अनिवार्य है।

आप की दृष्टि जिस व्यक्ति को आदर की दृष्टि से देखती है, उसका सदेश अपनालेना ही उस व्यक्ति का वास्तविक आदर

है। सद्भाव पूर्वक प्रेम-पात्र के होकर अपना सब कुछ समर्पण कर अचिन्त हो जाओ। यही परम पुरुषार्थ है।

× × ×

१३-११-४४

जीवन की घटनाओं के अर्थ का निरादर अनुभूति के अनुरूप जीवन नहीं होने देता, अर्थात् निज-ज्ञान का आदर नहीं हो पाता। अनुभूति का निरादर क्यों होता है? इसका मूल कारण हृदय में छिपी हुई भोगासक्ति है। निज ज्ञान का आदर दोष को प्रकाशित करता है और निर्दोषता की आवश्यकता जाग्रत करता है। दोष की अनुभूति निर्दोष-तत्व के द्वारा मिले हुए ज्ञान से होती है, क्योंकि निर्दोष-तत्व अनन्त-ज्ञान का भंडार है, एवं सर्वदा विद्यमान है, अर्थात् उसका अभाव नहीं होता। निर्दोष-तत्व अपने को तथा अपने से भिन्न को स्वयं प्रकाशित करता है। जब प्राणी प्रमादवश प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग अर्थात् मिले हुए ज्ञान का आदर नहीं करता है, तब निर्दोषता से दूरी और दोष से समीपता स्वतः भास होने लगती है। बस उसी काल में प्राणी निज ज्ञान का निरादर करने लगता है, जो परम भूल है। दोष कितना ही सबल क्यों न हो, किन्तु निर्दोषता को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है, परन्तु निर्दोषता की आवश्यकता दोष को खाकर निर्दोषता से अभिन्न कर देती है।

यह भली प्रकार समझ लो कि निर्दोषता भी दोष को मिटाती

नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करती है और दोष भी निर्दोषता को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत ढक लेता है। दोष के मिटाने में एवं निर्दोषता से अभिन्न करने में एक मात्र निर्दोषता की आवश्यकता ही समर्थ है। इस दृष्टि से निर्दोषता की आवश्यकता निर्दोषता से भी अधिक महत्व की वस्तु है।

प्यारे, प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के बीच में जो पर्दा है, वह केवल प्रेमी का बनाया हुआ है, प्रेम-पात्र का नहीं। जब प्रेमी अपनी दृष्टि से अपने को देखता है, तब उसे बनाई हुई दूरी* स्वतः मालूम हो जाती है। सभी दोष दोषी की सत्ता के बिना निर्जीव होते हैं। कोई भी दोष दोषी की कृपा के बिना जीवित नहीं रह सकता। अतः जिस काल में दोषी अपनी दृष्टि से दोष को देखकर, अपने को दोष से असंग कर लेता है, बस उसी काल में दोष सदा के लिये मिट जाता है, परन्तु जो दोषी दोष को देखकर ऐसा सद्भाव करता है कि मैं दोषी हूँ, बस दोष दोषी की सत्ता पाकर दोषी पर शासन करने लगता है। उसी भूल से प्राणी अनुभूति का निरादर करता है, क्योंकि यह अखण्ड नियम है कि जिससे प्राणी अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता आ जाती है, अतः अपने में से विचारपूर्वक सभी दोषों का सम्बन्ध-विच्छेद कर निर्दोषता की स्थापना कर लो, क्योंकि पवित्र होने पर पवित्रता आती है,

---

*नोट—प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में देश काल की दूरी नहीं होती है, क्योंकि प्रेम-पात्र अनन्त, नित्य एवं महान् हैं।

यह भली प्रकार समझ लो कि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लोगे, वह आप पर शासन नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी सत्यता तथा प्रियता मिट जावेगी और जिससे सम्वन्ध स्वीकार कर लोगे, उसमें सत्यता तथा प्रियता उत्पन्न हो जावेगी। इस कारण दोषों से सम्वन्ध-विच्छेद एवं निर्दोषता से सम्बन्ध की दृढ़ता परम अनिवार्य है। पतित से पतित प्राणी भी सर्व-समर्थ पतित-पावन, आनन्दघन भगवान् से सम्वन्ध स्वीकार कर पवित्र हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

× × ×

१३-११-४४

अपनी निर्बलता का ज्ञान उन्नति का साधन अवश्य है, परन्तु निर्बलता होने की वेदना होनी चाहिये। ज्यों ज्यों निर्बलता की वेदना बढ़ती जाती है, त्यों त्यों सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं, क्योंकि दुःख दुःखहारी हरि की खुराक है। "मैं" सब कुछ है अथवा कुछ नहीं। जिस "मैं" के साथ किसी प्रकार की स्वीकृति सम्मिलित है, उस "मैं" का कुछ भी मूल्य नहीं और जिस "मैं" से सभी स्वीकृतियाँ निकल गई हैं, उस "मैं" में आनन्दघन भगवान् निरन्तर निवास करते हैं, अतः आत्मानुभव के लिये अपने में से सभी स्वीकृतियाँ निकाल दो। ऐसा करने से आत्मानुभव स्वतः हो जायगा। जिसकी आवश्यकता मिट नहीं सकती उसी से वास्तविक एकता है, संसार से नहीं, क्योंकि

संसार की सभी इच्छायें प्रयत्न से मिट जाती हैं, किन्तु नित्य-जीवन, नित्य-रस, नित्य-प्यार की आवश्यकता निरन्तर बनी ही रहती है, अर्थात् उसकी पूर्ति अनिवार्य है, निवृत्ति नहीं। संसाररूपी अभिनय में सीमित काल के लिये भोगासक्ति मिटाने के लिये पार्ट (*Part*) मिला है, उसे प्रेम-पात्र के नाते धर्मानुसार कर डालो। परन्तु उसमें जीवन-बुद्धि न हो, क्योंकि जीवन-बुद्धि हो जाने पर अभिनय में सद्भाव हो जावेगा। सद्भाव होने पर वासनाओं की उत्पत्ति होगी। अभिनय में अभिनय बुद्धि होने पर सद्भाव मिट जावेगा। सद्भाव मिट जाने पर निर्वासना आ जावेगी। निर्वासना आने पर की हुई प्रवृत्ति राग-द्वेष रहित हो जावेगी। राग द्वेष मिटते ही हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जावेगा और फिर अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होगा, अर्थात् प्रेम-पात्र से भिन्न अन्य सत्ता शेष न रहेगी।

वियोग का भय नित्य योग की आवश्यकता जाग्रत करता है। दुःख का चिन्तन कुछ अर्थ नहीं रखता। पूर्ण दुखी वर्तमान में ही दुःख से छूट जाता है, क्योंकि सर्व-समर्थ पतित-पावन दुःखहारी हरि दुःख को हर लेते हैं।

संसार में संसार के लिये रहो, अपने लिये संसार की आशा करना सच्चाई से दूर होना है। विचारशील प्राणी को व्यर्थ चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती। जो प्राणी सेवा से अपने को बचाता है, उसी के मन में आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन होता है, जो अवनति का मूल है। अतः वर्तमान

परिस्थिति का सदुपयोग कर संयोग में ही वियोग देखने का प्रयत्न करो। ऐसा करने से दुःखहारी हरि से अभिन्नता हो जायगी।

× × ×

निःसंकल्पता आ जाने पर "है" (सत्) में प्रतिष्ठा और "नहीं" (असत्) से सम्बंध-विच्छेद स्वतः हो जाता है, क्योंकि जो 'नहीं' है, उसका संकल्प करते ही उससे स्वीकृति-जन्य सम्बन्ध होता है और जो 'है' उसका संकल्प करते ही उससे दूरी होती है। अतः निःसंकल्प होने पर "है" से एकता और "नहीं" से भिन्नता अपने आप हो जाती है। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनको विचार-पूर्वक निकाल दो अथवा धर्मानुसार पूरा कर दो, किन्तु नवीन संकल्प उत्पन्न मत होने दो। ऐसा करने से सभीनिर्बलतायें समूल नष्ट हो जावेंगी। आवश्यकता से अधिक जानने तथा सुनने पर समझ को अजीर्ण हो जाता है। अतः जितना जाना हो उतना कर डालो। जानकारी के अनुरूप जीवन होने पर जानकारी स्वयं बढ़ जाती है। जानकारी का निरादर अर्थात् उसके अनुरूप जीवन न होना पतन का कारण है। निवृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिये। प्रवृत्ति संयम-पूर्वक की जाय। ऐसा करने से निर्बलतायें निर्जीव होने लगेंगी।

× × ×

२०—११—४४

धन का वास्तविक अर्थ शक्ति है, जो प्राणी-मात्र को प्रिय है। धन का अर्थ सिक्का तथा वस्तु मान लेना प्रमाद है। निर्ध-

नों (शक्तिहीनों) को देख, उनकी सेवा करने की भावना उन्नति का मूल अवश्य है, किन्तु धनी अर्थात् शक्तिशाली कहलाने की इच्छा पतन का मूल है। प्राकृतिक विधान के अनुरूप वर्तमान का सच्चा दुःख भविष्य में सत्ता* अवश्य हो जाती है। सर्व-हितकारी सेवा के भाव से शक्ति का चिन्तन करना, अर्थात् शक्ति के लिये सर्वशक्तिमान से प्रार्थना करना, उन्नति का साधन है; किन्तु इन्द्रिय-जन्य उपभोग के लिये शक्ति का आवाहन करना पतन का मूल अवश्य है। प्राप्त शक्ति को सेवा में लगा दो और अप्राप्त शक्ति के लिये तीव्र व्याकुलता उत्पन्न करते रहो। संसार के काम आने का भाव सतत् जाग्रत रहना चाहिये। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चे सेवक में ऐश्वर्य - माधुर्य - सम्पन्न भगवान् अवश्य निवास करते हैं, क्योंकि उनके बिना सेवा हो ही नहीं सकती। शक्ति द्वारा शक्तिमान् को प्राप्त करना साधन है। शक्तिमान् से विमुख हो शक्ति का उपभोग करना विघ्न है।

× × ×

---

*नोटः—प्रत्येक व्यक्ति सर्वसमर्थ प्रेम पात्र की छाया में निवास करता है, अतः असह्य वेदना की पूर्ति अनिवार्य है। अन्तर केवल इतना है कि यदि सत् के लिये व्याकुलता है, तो उसकी पूर्ति वाह्य सहायता के बिना वर्तमान में ही हो जाती है और यदि भोगों (असत्) के लिये व्याकुलता है, तो उसकी पूर्ति कालान्तर में वाह्य संघ अर्थात् कर्म के द्वारा हो जाती है, अतः वर्तमान का दुःख भविष्य में सत्ता बन जाता है।

भिन्न को अभिन्न मान लेने पर दो प्रकार के सम्बंधों का आरम्भ हो जाता है, अर्थात् भेद-भाव तथा अभेद-भाव के सम्बन्धों की दृढ़ता हो जाती है। उसी दृढ़ता के अनुरूप अनेक वासनाओं की उत्पत्ति स्वतः होने लगती है। यह नियम है कि प्रत्येक वासना की पूर्ति का रस अनेक वासनायें उत्पन्न करता रहता है। बस बेचारा प्राणी उन्हीं वासनाओं के जाल में फंस कर सुख-दुःख की अग्नि में जलता रहता है। यद्यपि आनंद की आवश्यकता विद्यमान है, किन्तु संयोग की दासता का रस उसे जाग्रत होने नहीं देता, परन्तु जब विचारशील भिन्न को भिन्न जान लेता है, उसी काल में सभी स्वीकार किये हुए सम्बन्ध तुरन्त मिट जाते हैं। स्वीकृति-जन्य सम्बन्धों के मिटते ही आनन्दघन प्रेम-पात्र से स्वतः सम्बन्ध हो जाता है। यद्यपि प्राकृतिक विधान सभी स्वीकार किये हुए सम्बन्धों को निरन्तर परिवर्तित करता रहता है, किन्तु प्रमाद-वश प्राणी वियोग में भी संयोग मान कर प्रेम-पात्र से नित्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करता, यही परम भूल है। प्राकृतिक विधान अर्थात् प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा प्राणी को वासना से उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों में आबद्ध नहीं होने देती, अर्थात प्रत्येक संयोग बिना ही प्रयत्न वियोग में विलीन होता रहता है, मानो प्रेम-पात्र से नित्य संयोग करने के लिये त्याग तथा प्रेम का पाठ पढ़ाता है।

आनन्दघन भगवान् की अहैतुकी कृपा न जानने का दोष

मानव में नहीं रहने देती। इतना ही नहीं प्रत्येक मानव में निज ज्ञान के अनुरूप करने की शक्ति भी विद्यमान है, परन्तु मानव अपने पर अपनी कृपा नहीं करता, अर्थात् निज ज्ञान का निरादर एवं प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग कर उन्नति से निराश होने लगता है। यदि जो कर सकता है, उसको करने लगे तो भगवान् की अहैतुकी कृपा आवश्यक शक्ति एवं योग्यता स्वतः प्रदान करती रहती है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। हम उन्नति से निराश तभी होते हैं, जब अपनी योग्यता के अनुरूप जीवन नहीं बनाते।

हम संसार से जो आशा करते हैं, वह संसार के साथ नहीं करते। हम जो प्रेम-पात्र से आशा करते हैं, वह स्वयं प्रेम-पात्र के साथ नहीं करते। प्रत्येक मानव संसार से काम लेना चाहता है, किन्तु स्वयं संसार के काम आने से अपने को बचाता है। प्रत्येक मानव आनन्दघन भगवान् को अपना बनाना चाहता है, किन्तु स्वयं उनका होने से डरता है। इन्हीं दो कारणों से जीवन में अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जब हम उनके हो जाते हैं, तब वे स्वयं हमारे हो जाते हैं। इतना ही नहीं हम अनेक बार उनसे विमुख होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे हमें निरन्तर अपनाते हैं। उनकी कृपा का निरादर करना हमने जीवन बना लिया है। यदि हम उनकी अहैतुकी कृपा का आदर करें, तो अनन्त काल के दोष उनकी कृपा से स्वतः वर्तमान में ही मिट जाते हैं, यद्यपि

उनकी गुणमयी माया सभी प्राणियों को मोहित करती है, किन्तु उनकी कृपा प्रेम-पात्र को भी मोहित करती है। अतः उनका होकर उनकी कृपा की निरन्तर प्रतीक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिये। जिस प्रकार प्यास लगने पर यदि जल नहीं मिलता, तो प्यास स्वतः बढ़ती जाती है, मिटती नहीं; उसी प्रकार उनका होते ही उनकी कृपा की प्रतीक्षा निरन्तर बढ़ती ही रहती है, मिटती नहीं।

प्रत्येक कर्त्ता के कर्त्तव्य-निष्ठ होने में केवल दोही प्रतिबन्ध हैं---कर्त्तव्य के ज्ञान का निरादार एवं करने की शक्ति का दुरुपयोग। इन्हीं दो कारणों से साधक साधन में असफल होता है। कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिये न जानने का दोष एवं करने की शक्ति का अभाव कदापि नहीं है, क्योंकि जो कर नहीं सकते उसके कराने की आशा प्राकृतिक विधान के अनुसार कभी नहीं हो सकती, जिस प्रकार आँख से सुनने और कान से देखने की कोई भी आशा नहीं करता, अर्थात् प्रत्येक कर्त्ता मे कर्त्तव्य का ज्ञान एवं करने की शक्ति विद्यमान है। जिस प्रकार वस्त्र से रंग की भिन्नता होने पर भी अभिन्नता प्रतीत होती है, उसी प्रकार अपने बनाये हुए दोष से भिन्नता होने पर भी अभिन्नता प्रतीत होती है। यदि अपनी दृष्टि से अपने दोषों को देखने का प्रयत्न किया जावे, तो दोष से भिन्नता का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान से दोष का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान से दोष के मिटाने की शक्ति उत्पन्न होती है। जब दोषी दोष

को जान, दोष का त्याग कर, अपने में निर्दोषता की स्थापना करता है, तब अनन्त काल के दोष वर्तमान में ही मिट जाते हैं, क्योंकि निर्दोषता की स्थापना होने पर दोष उत्पन्न होने के लिये स्थान शेष नहीं रहता। निर्दोष-तत्त्व केवल भगवत्तत्त्व है, अथवा यों कहो कि भगवत्तत्त्व ही निर्दोष है। अतः रुचि के अनुरूप भेदभाव तथा अभेद-भाव पूर्वक भगवान् से सम्बन्ध करते ही सभी दोष मिट जाते हैं।

सम्बन्ध भाव है, अभ्यास नहीं। भाव तथा त्याग वर्तमान में ही फल देते हैं। अभ्यास भविष्य में फल देता है। इसी कारण अनन्त काल का दोष त्याग करते ही मिट जाता है और अनन्त काल का वियोग सम्बन्ध स्वीकार करते ही नित्य हो जाता है। सम्बन्ध तथा त्याग करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। प्राकृतिक विधान के अनुसार माने हुए सम्बन्ध के स्वरूप का वियोग होने पर भी प्राणी संबंध-विच्छेद नहीं करता, जैसे विधवा स्त्री, पति के मर जाने पर भी अपनेको पति का ही मानती है। गृह से दूर होने पर भी गृह से एकता बनी रहती है, अथवा मित्र के दूर होने पर भी मित्रता का संबंध प्रतीत होता है। इन सब दृष्टान्तों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि स्वीकार किया हुआ सम्बन्ध केवल स्वीकृति के आधार पर ही जीवित है। अतः अपने बनाये हुए सम्बन्ध को त्याग कर प्राणी आनन्दघन, भगवान् से नित्य सम्बन्ध करने में सर्वदा स्वतन्त्र है; जिसके

करते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। भेद-भाव का सम्बन्ध स्थापित करते ही हृदय में व्याकुलता की अग्नि उत्पन्न होती है, जो सभी दोषों को भस्मीभूत कर डालती है। अभेद-भाव का सम्बन्ध करते ही निर्वासना आ जाती है, जो सभी गुणों को स्वतः उत्पन्न करती है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो व्याकुलता की अग्नि से दग्ध न हो जावे। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो निर्वासना होने पर न आ जावे। व्याकुलता जाग्रत करने के लिये एवं वासना-रहित होने के लिये संसार की सहायता की लेश मात्र भी आवश्यकता नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी निर्दोषता प्राप्त करने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

× × ×

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं। शरीर विश्व की वस्तु है, अतः उसको विश्व की सेवा में ही लगाना है। विश्व शरीर की ही आशा करता है और शरीर विश्व की, क्योंकि इन दोनों में जातीय एकता है। "मैं" के लिये अर्थात् अपने लिये विश्व में कोई स्थान नहीं है और "मैं" को भी विश्व की आवश्यकता नहीं है। अतः अपने में आनन्द-घन भगवान् की स्थापना कर, अपने को उनके पूजन की सामग्री बना कर, उनके समर्पण कर, सदा के लिये निश्चिन्त हो जाओ। ऐसा करने के लिये प्राणी सर्वदा स्वतंत्र है,

परन्तु संसार के झंझटों से डर कर गृह-त्याग करना कुछ अर्थ नहीं रखता। संसार से सुख की आशा मत करो, यही संसार का त्याग है। यथा-शक्ति संसार की सेवा करते रहो, यही परम तप है। अपनी प्रसन्नता के लिये अपने प्रेम-पात्र से भिन्न किसी अन्य की ओर मत देखो, यही परम भक्ति है। ऐसा करने से सभी उलझनें अपने आप सुलझ जायेंगी।

X X X

१७-७-४४

प्रत्येक उलझन उन्नति का साधन है, डरो मत। उलझन-रहित जीवन बेकार है। संसार में उन्हीं प्राणियों की उन्नति हुई है, जिनके जीवन में पग-पग पर उलझन आई है। उलझन जागृति उत्पन्न करती है, प्रमाद को खा लेती है, छिपी हुई शक्ति को विकसित करती है; परन्तु जो प्राणी उससे डरता है, उसको अपना दास बना लेती है। प्यारे, अपने पर अपनी कृपा करना सीखो, किसी और के दोष मत देखो। यदि हो सके तो अपनी निर्बलताओं को देखो और उनके मिटाने का प्रयत्न करो, हार स्वीकार मत करो। जब प्राणी अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तब अनन्त-शक्ति (Universal Energy) अपने आप रक्षा करती है। मानव-जीवन में अवनति के लिये कोई स्थान नहीं है। अवनति प्राणी का बनाया हुआ खिलौना है, क्योंकि किसी और का दोष किसी और को तंग नहीं करता, अर्थात् अपने दोष का कारण किसी

अन्य को मत समझो । दोष मिटाया जाता है, गुण स्वतः उत्पन्न होता है । यह भली प्रकार समझ लो कि हठ-पूर्वक की हुई निवृत्ति, प्रवृत्ति का मूल है और प्रेम-पात्र के नाते अभिनय के स्वरूप में की हुई प्रवृत्ति, निवृत्ति का मूल है ।

× × ×

१—२—४४

अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो । बुराई का उत्तर अच्छाई से दो । जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं उनको पवित्रता-पूर्वक पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो । त्याग स्वतः उत्पन्न होनेवाली वस्तु है । काम का अन्त होने पर राम अपने आप आ जाता है । जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपना लो, घटनाओ को भूल जाओ । जो करो ठीक करो, जहाँ रहो ठीक रहो, भूत काल भूल जाओ । दुःख भूल जाओ, वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने को सभी परिस्थितियो से असंग कर लो । परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है, क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से उससे सम्बन्ध-विच्छेद होता है । त्याग का अभिमान राग का मूल है, जिसे सभी विचारशील जानते हैं ।

प्यारे, दुःख से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो । यह भली प्रकार समझलो कि जो प्राणी सद्भाव-पूर्वक एक बार

भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अतः "मैं भगवान् का हूँ" यह महामंत्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें अपने आप सुलझ जायेंगी। भगवान् का हो जाने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

× × ×

६—११—४४

व्याकुलता तथा मोह-जनित वेदना में बड़ा अन्तर है। वेदना प्राणी का मूल्य घटाती है तथा लक्ष्य से निराश करती है, परन्तु व्याकुलता प्राणी का मूल्य बढ़ाती है, एवं लक्ष्य की ओर तीव्र गति उत्पन्न करती है; किन्तु उस व्याकुलता की उत्पत्ति तब होती है, जब प्राणी जितना कर सकता है, कर डालता है, और लक्ष्य से निराश नहीं होता। ऐसी दशा में हृदय की जो दशा होती है, बस वही व्याकुलता है। व्याकुलता उत्पन्न होते ही कर्त्तव्य का ज्ञान तथा उसके अनुरूप जीवन बनाने की शक्ति स्वतः आ जाती है। अतः अनशन के द्वारा उत्पन्न वेदना की अपेक्षा स्वाभाविक व्याकुलता कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि अनशन किया जाता है और व्याकुलता उत्पन्न होती है। करने से सीमित अहं जीवित रहता है और होने से सीमित अहं गल कर असीम निर्दोष-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

× × ×

भाव का रस क्रिया के रस से कहीं मधुर है, किन्तु प्रेम-पात्र के बीच में हल्का सा पर्दा अवश्य है। परदा प्रेमी के हृदय में प्रीति-जाग्रत करने में समर्थ है, इस दृष्टि से भाव आदरणीय अवश्य है, क्योंकि वियोग से प्रीति की दृढ़ता होती है, न्यूनता नहीं। प्रीति की अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, त्यों त्यों प्रेमी की सत्ता स्वतः प्रीति मे परिवर्तित होती जाती है, अर्थात् प्रेमी प्रीति होकर प्रीतम से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है।

अपनत्व की दृढ़ता होने पर, जब प्रेमी को प्रेम-पात्र के प्रेम का आस्वादन नहीं मिलता, तब प्रेमी ऊपर से मान कर (रूठ कर) खीझने लगता है, किन्तु भीतर से व्याकुलता की गति तीव्र होने लगती है ; यही मान-लीला का रहस्य है।

× × ×

प्र०—माया क्या है ?

उ०—माया दो प्रकार की है :—

१. गुणमयी माया २. योगमाया

भोगेच्छा की पूर्ति के लिये गुणमयी-माया भोग के स्वरूप में उत्पन्न होती है, किन्तु भोग की क्षण भंगुरता को ज्ञान कराके स्वतः चली जाती है।

योग-माया नित्य-जीवन, नित्य-रस अर्थात् भगवान् की आवश्यकता जाग्रत करती है। इतना ही नहीं, प्रत्युत गुणमयी माया को खा कर भगवान् से अभिन्न करती है।

गुण-मयी माया प्राणी के जीवन में भोगासक्ति उत्पन्न करती है; योग-माया भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में जिज्ञासा जाग्रत करती है। गुणमयी-माया बुलाने पर आती है और अपने आप चली जाती है। योग-माया अपने आप आती है और जब तक भक्त में भक्ति और जिज्ञासु में जिज्ञासा पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती तब तक बनी रहती है। गुण-मयी माया योग-माया को ढक लेती है, मिटा नहीं पाती, किन्तु योग-माया गुणमयी-माया को अपने में विलीन कर अपने पति से अर्थात् परमात्म-तत्त्व से अभिन्न कर देती है।

× × ×

१६-१२-४४

आज कल प्राणी शुभ कर्म को सेवा मान लेते हैं, इसी कारण उसमें बँध जाते हैं। सच्ची सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। यह बात सुनने में असम्भव सी मालूम होती है, परन्तु परम सत्य है। जिस प्रकार प्रेम प्रेमपात्र का स्वभाव तथा प्रेमी की आवश्यकता है, उसी प्रकार सेवा समर्थ का स्वभाव तथा असमर्थ की आवश्यकाता है। सच्ची सेवा का अधिकार तब प्राप्त होता है, जब प्राणी को अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। साधारण प्राणी मार्ग में चलते हुए पथिक के सामान स्वयं पहुँचने के पूर्व, विना ही पूछे दूसरे को संकेत करते हैं। ऐसी दशा में वे स्वयं तो पहुँच ही नहीं पाते और दूसरे को भी विपरीत पथ पर डाल देते हैं। बिना पूछे मार्ग बताना कुछ

अर्थ नहीं रखता। जब तक दोषी को स्वयं दोष न मालूम हो, तब तक उसे दोषी बनाकर निर्दोषता का उपदेश बेकार होता है। ऐसा करने से अपने में सीमित अच्छाई और दूसरे में बुराई दीखने लगती है, जो पतन का कारण है। यदि किसी का दोष देखकर हृदय में वेदना हो, तो व्याकुलतापूर्वक उसकी मूक सेवा करो। कहो कुछ मत, अर्थात् वह यह न समझ पावे कि मेरी सेवा कर रहे हैं और अपने में भी यह भाव न आवे कि मैं सेवा कर रहा हूँ, बल्कि यह भाव रहे कि मैं अपने हृदय की वेदना मिटा रहा हूँ, अर्थात् सेवक होने की तैयारी कर रहा हूँ। ज्यों ज्यो अपने दोष मिटते जायँगे, त्यों त्यों सेवा करने की शक्ति स्वतः आती जायगी। दोषी का दोष अपना दोष मालूम हो और उसके दोष का उत्तरदायित्व अपने पर प्रतीत हो, ऐसी दशा में सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होगी। उस व्याकुलता से सेवा करने की योग्यता आ जायगी। शुभ कर्म कालान्तर में बन्धन का हेतु हो सकता है, किन्तु सेवा किसी भी काल में बन्धन का हेतु नहीं होती। कर्म, भिन्नता का भाव मानकर ही होता है, सेवा का जन्म एकता का भाव आने पर होता है। जो अपनी प्रसन्नता के लिये अपने प्रेम-पात्र से भिन्न की ओर नहीं देखता, उसी को सेवा करने का सौभाग्य मिलता है, क्योंकि सेवा प्राकृतिक विधान (Universal Law) है, कर्म बुद्धि-जन्य विधान है। इसलिये पवित्र से पवित्र कर्म में भी किसी न किसी प्रकार की न्यूनता रहती है। यह आपने ठीक लिखा है

कि बुराई कितनी ही छिपा कर की जाय, किन्तु फैलती है, अर्थात् समाज की हानि होती है, परन्तु बुराई कर्त्ता केवल-शिक्षामात्र से बुराई का त्याग नहीं करता। यह भली प्रकार समझ लो कि न समझने का दोष शिक्षा से मिटता है, किन्तु न करने का दोष, जब कर्त्ता स्वयं अपने ऊपर कृपा करता है, तब मिटता है। सब से बड़ा दोष क्या है ? अपने ज्ञान का आदर न करना। जो प्राणी अपने ज्ञान का आदर नहीं करता वह उपदेशक के ज्ञान का आदर कर ही नहीं सकता। अतः बिना पूछे समझाने का प्रयत्न न करो। उसके दुःख से दुखी होकर मूक सेवा करो। पवित्र-भाव स्वतः कार्य करते हैं, किन्तु ऐसे सेवक को संसार नहीं जान पाता। वाह्य सेवा में बनावट अधिक होती है, इस-लिये विचारशील को उससे बचना चाहिये।

× × ×

१७—१२—४४

कल्याण की आवश्यकता कल्याण का सच्चा मार्ग है। सद्गुरु-कृपा कल्पवृक्ष है। ऐसी अवस्था में भी कल्याण की चिन्ता करना प्रमाद के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता। प्यारे, भोलेभाले किसान की भाँति सद्गुरु के दिये हुए बीज-स्वरूप परम सत्य को अपने में बोकर विकल्परहित हो जाओ। यथा-शक्ति सत्संग के जल से उसे सींचते रहो। अनन्त-काल के दोष सत्य को अपनाते ही स्वतः मिट जाते हैं। भूत काल भूल जाओ। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर असंग हो

जाओ। अपने में ही अपने प्रेम पात्र की स्थापना कर अचिन्त हो जाओ। ज्यों ज्यों अचिन्तता बढ़ती जायगी, त्यों त्यों छिपी शक्तियों का विकास अपने आप होता जायगा। अचिन्त होने के लिये किसी प्रकार के बनाये हुए संगठन की आवश्यकता नहीं है। जो कर सकते हो कर डालो, जो नहीं कर सकते हो उसके लिये चिन्ता मत करो। अपनी दृष्टि से देखे हुए दोष को त्याग, अपने में निर्दोषता स्थापित कर, निश्चिंत हो जाओ। ऐसा करने से पुनः दोष उत्पन्न न होगा, क्योंकि जो स्वीकृति अहंभाव (Limited Personality) में से निकल जाती है, उसकी सत्ता मिट जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि भक्त होने पर जिज्ञासा और पवित्र होने पर पवित्रता स्वतः आ जाती है, क्योंकि अहंभाव के विपरीत चेष्टा नहीं होती, प्रत्युत जो सद्भावना अहंभाव से मिल जाती है, उसमें सत्यता तथा प्रियता आ जाती है।

× × ×

१८—१२—४४

जिस प्रकार काष्ठ अग्नि होकर अपने कारण में विलीन होता है, उसी प्रकार भक्त भक्ति होकर, सेवक सेवा होकर, प्रेमी प्रीति होकर, जिज्ञासु जिज्ञासा होकर अपने अपने लक्ष्य में विलीन होते हैं।

संसार की ओर जाने के लिए अहंभाव शरीर व इन्द्रियों में परिवर्तित होकर क्रिया करता है, अन्त में शक्तिहीन हो विवश हो जाता है, किन्तु प्रेमपात्र की ओर जाने के लिये मन

इन्द्रियादि अहंभाव (मैं) में विलीन होते हैं और अहंभाव प्रीति होकर प्रीतम का रस पान करके कृतकृत्य हो जाता है, बस, यही सच्ची आस्तिकता है।

नोटः—चिन्ताविलापरहित होना ही वास्तविक सहनशीलता है। चिन्ता अप्राप्त वस्तु की होती है, विलाप वस्तु के वियोग का होता है। ये दोनों आस्तिक को शोभा नहीं देते।

× × ×

२३—१२—४४

सत्य के अभिलाषी का किसी भी प्रकार पतन नहीं होता, उत्थान ही होता है, क्योंकि सत्य की अभिलाषा उदय होते ही अनन्त-काल की भोगेच्छाओं को खा लेती है। भोगवादी जिस पद को अनुष्ठानों से नहीं पाता, सत्य का जिज्ञासु उस पद को केवल जिज्ञासा मात्र से पाता है, क्योंकि त्याग वर्तमान में फल देता है।

× × ×

शरीर-इन्द्रियादि हितकारी चेष्टाओं में लगे रहें, हृदय प्रेम पात्र की प्रीति से छका रहे, विवेक-पूर्वक बुद्धि सम हो जावे, अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव हो। जिन साधनों से उपरोक्त जीवन हो जावे, वे ही वास्तविक साधन हैं। वियोग का भय, और संयोग की आसक्ति मिट जाने पर प्राकृतिक विधान के अनुरूप परिवर्तन-शील जीवन की प्रगति स्वतः हो जाती है। स्वार्थ-भाव का नितान्त अन्त होने पर, एवं सेवा-भाव जाग्रत होने पर शरीर इन्द्रियादि से हितकारी चेष्टायें स्वयं होने लगती हैं।

सद्भाव पूर्वक प्रेम-पात्र से अपनत्व, एवं आत्म-समर्पण-भाव दृढ़ होने से हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छक जाता है। वर्तमाम जीवन में जीवनबुद्धि न रहने से एवं वर्तमान जीवन को मृत्यु जान लेने पर, बुद्धि विवेकपूर्वक सम हो जाती है।

अपने में से सभी स्वीकृतियाँ निकल जाने से एवं स्वाभाविक निर्वासना आ जाने से अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव होता है। आवश्यकता का ज्ञान एवं प्राप्त योग्यता का सदुपयोग करने पर अचिन्तता तथा व्याकुलता स्वतः उत्पन्न होती है। पूर्ण अचिन्तता एवं पूर्ण व्याकुलता होने पर सफलता पैर पलोटती है, अतः मानवजीवन मे निराश होने के लिये कोई स्थान नहीं है।

× × ×

उत्तर-काशी

१६–६–४५

भक्तवर !

सर्वदा अभय रहो।

यह मैं जानता हूँ कि तुम्हारे जीवन में अनेकों मानसिक एवं शारीरिक आघात पड़े हैं, परन्तु वेटी दुःख से प्राणी को कभी डरना नहीं चाहिये। हाँ, उसका सदुपयोग करना चाहिये। दुःख का सदुपयोग त्याग है, क्योंकि दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिये आता है। शरीर को अपना मत समझो, हठीलापन छोड़ दो, निष्काम-भाव से सेवा करनेवाले भक्त-जनों की आज्ञा का पालन करो, बड़ी से बड़ी कठिनाई को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करते रहो;

यही तप है। प्रत्येक श्वास भगवच्चिन्तन करते हुए बिताओ। घबड़ाओ मत। दुःख में धीरज तथा धर्म ही काम आता है। तुम अपने को भक्त मानती हो। भक्त का परम-धर्म है भगवान् के शरणापन्न हो जाना, अपने बनाये हुए मोहजनित सम्बन्धों को मिटा देना और अपने आप आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन कर लेना। तुम मुझे बुलाने के लिये लिखती हो; इससे तुम्हारा क्या लाभ होगा? तुम जिस प्यार से मुझे बुलाती हो, यदि उस प्यार से प्रभु को बुलाओ, तो तुम्हारा कल्याण हो जावेगा। संसार से निराश होकर व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र को बुलाओ, इसी से हित होगा।

देखो बेटी, मानव-जीवन बड़े मूल्य की वस्तु है। अतः उसका सदुपयोग करना चाहिये।

× × ×

२४-१-४२

प्राकृतिक-विधान (Universal Law) के अनुसार मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित करना परम अनिवार्य्य है।

१. गुणों का विकास।

२. सीमितकाल के लिये संस्कृति के अनुरूप सीमित उपभोग।

३. सार्वजनिक सेवा, संयम एवं तत्त्व-चिन्तन।

४. त्याग-पूर्वक नित्यजीवन तथा पूर्ण निर्भयता प्राप्त करना।

उसमें से जीवन का प्रथम भाग जो सद्गुणों के संचय करने के लिये था, उसको आपने बड़ी वीरता गम्भीरता-पूर्वक

यथासाध्य पूरा करने का प्रयत्न किया। धार्मिक संस्कृति के अनुसार मन में छिपी हुई अर्थ तथा काम की वासनाओं का यथार्थ ज्ञान करने के लिये तथा उससे असंग हो सार्वजनिक सेवा की तैयारी के लिये गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये। अब आपका वह समय उपस्थित है। पति-पत्नी भाव सभी भावों से विशेष अभिन्नता एवं एकता प्रकाशित करता है, अर्थात् पत्नी पति की, पति पत्नी की पूर्ति का साधन होता है। जिस प्रकार धान (छिलके समेत चावल) रहने पर वृद्धि पाता है, उसी प्रकार पति-पत्नी अभेद होने पर ही विकास पाते हैं, परन्तु उपभोग में जीवन-बुद्धि स्थापित करना वास्तविक विकास का ह्रास करना है। जिस प्रकार भयंकर रोग की निवृत्ति के लिये कुछ काल कटु औषधि प्रियता पूर्वक सेवन की जाती है, उसी प्रकार संयोग-जन्य रस की आसक्ति रूपी राग की निवृत्ति के लिये पति-पत्नीभाव-रूपी औषधि सेवन की जाती है।

विचारशील दम्पति जिस प्रसन्नता, पवित्रता एवं सच्चाई से संयोग स्वीकार करते हैं, उसी पवित्रता के साथ वियोग स्वीकार कर अपनी अपनी निर्बलताओं का अन्त करते हैं, अर्थात् भारतीय पाणिग्रहण-संस्कार की प्रथा में कंगन की गाँठ खोलने की प्रथा प्रायः प्रचलित है, जो वर वधू में से प्रथम गाँठ खोल लेता है, उसकी विजय मानी जाती है, किन्तु इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि गाँठ खुल जावे, टूट न जावे। टूट न जाने का वास्तविक अर्थ यही है कि जिस निर्बलता (छिपा हुआ राग) को

मिटाने के लिये दम्पति-भाव स्वीकार किया था, उसकी सिद्धि प्राप्त हो जावे अर्थात् पति-पत्नी दोनों ही जीवन के तीसरे भाग में प्रविष्ट हो जावें।

देखो, जीवन का प्रथम भाग और तीसरा भाग उपार्जन के लिये है और दूसरा भाग धर्मानुसार उपभोग के लिये है। यह भली प्रकार समझलो कि जो प्रवृत्ति धर्मानुसार की जाती है, उसमें भाव का मूल्य होता है, क्रिया का नहीं। भाव को मिटा कर केवल क्रिया को स्थान देना पशुता है। जीवन का चौथा भाग वियोग का भाव मिटाकर नित्य जीवन (Eternal life) प्राप्त करने के लिये है।

परस्पर प्रीति को दृढ़ बनाने के लिये उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर डालो, जो दूसरों की पूर्ति का साधन न हों। अपनी पूर्ति के लिये अपने से भिन्न की खोज मत करो। जो प्रवृत्ति किसी की पूर्ति का साधन न हो, उस प्रवृत्ति का निरोध करना परम तप है। हृदय में यह भाव सतत जाग्रत रहे कि मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हितार्थ हो। शक्तियों के विकास के लिये सर्व-शक्तिमान् सच्चिदानन्द-घन लीलामय भगवान् से सद्भाव-पूर्वक हृदय से प्रार्थना करते रहो कि हे प्रभो, यह शरीर विश्व के काम आ जावे और मैं तेरे काम आ जाऊँ, परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के स्वरूप में पूरी होकर तेरी स्थायी प्रीति में विलीन हो जावे।

जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का सदुपयोग कर लेता

है और अप्राप्त शक्ति के लिये व्यथित हृदय से पुकारता है, तो सफलता अवश्य होती है, ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

देखो, पतिपत्नी-भाव प्रीति का पाठ पढ़ाने के लिए सर्वोत्कृष्ट भाव है, क्योंकि दाम्पत्य-भाव मे भिन्नता के लिये कोई स्थान नहीं रहता। वैसे तो एक और एक मिलकर दो होते हैं, किन्तु प्रीति वह गणना है कि जिसमे एक और एक मिलकर एक होता है। अतः आप लोग शरीर-दृष्टि से भले ही दो प्रतीत हों, किन्तु भाव-दृष्टि से अभिन्न हों। भाव का जगत् क्रिया के जगत् से कहीं अधिक मधुर और विभु है।

आपको उपहार स्वरूप श्री रामायण इसलिये दी जाती है कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मानुसार सरस तथा मधुर हो। लीला-मय भगवान् आप लोगों को स्वधर्म-निष्ठ होने के लिये सद्‌बुद्धि प्रदान करें।

धर्म प्राकृतिक विधान है, जिसके अनुरूप जीवन होने पर प्राणी के सभी बन्धन स्वतः मिट जाते हैं, अर्थात् परतंत्रता शेष नहीं रहती है। प्राकृतिक विधान किसी भी सीमित अवस्था में आबद्ध रहने के लिये आज्ञा नहीं देता और न किसी से भिन्नता का भाव करने के लिए आज्ञा देता है, अर्थात् भिन्नता तथा आसक्ति को मिटाकर केवल त्याग तथा प्रेम का पाठ पढ़ाता है। जिस प्रवृत्ति में त्याग तथा प्रेम भर-पूर है, वही वास्तव में धर्म है। जिस प्रकार सभी मिठाइयों मे मीठापन चीनी का है, उसी

प्रकार सभी प्रवृत्तियों में सौन्दर्य धर्म का है। धर्मरहित प्रवृत्ति बंधन का हेतु होती है। उसी धर्म का पाठ पढ़ाने के लिये ऋषि-जीवन के पुरुषों ने मानवजीवन को चार भागों में विभाजित किया है—

१. गुणों का विकास।

२. सीमितकाल के लिये सीमित उपभोग।

३. संयम, सेवा, तत्व-चिन्तन।

४. सभी स्वीकृतियों के त्याग से निर्वासना प्राप्त करना।

यह बुद्धिजन्य विधान प्राकृतिक विधान का प्रकाश है, अर्थात् मनुष्यमात्र के लिये आज्ञा है, परन्तु जिस काल में प्राणी की संयोगजन्य रस की आसक्ति निवृत्ति हो जावे, उसी काल में सर्वत्याग कर सकता है, अर्थात् अपने में से सभी स्वीकृतियों को निकाल सकता है, क्योंकि संस्कृतिजन्य स्वीकृतियों का शासन विषयी प्राणियों पर होता है। विषय-वासना निवृत्त होने पर दृष्टि विना दृश्य के, चित्त विना आधार के, प्राण विना निरोध के सम हो जाता है। ऐसी अवस्था में स्वीकृतियों का शासन शेष नहीं रहता, परन्तु जो प्राणी व्यावहारिक प्रतिकूलताओं के कारण अपने को दुःख से बचाने के लिये संस्कृति-जन्य स्वीकृतियों को त्याग, संसार का दास बन कर जीवित रहता है, उसको स्वीकृति का शासन अवश्य स्वीकार करना चाहिये। सभी बंधन प्राणी में उपस्थित हैं, परिस्थिति में नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति का भय नास्तिक अर्थात् धर्मरहित प्राणियों को होता है। धर्मात्मा

प्रतिकूल परिस्थिति से डरता नहीं, प्रत्युत उसका सदुपयोग करता है। धर्मात्मा के जीवन में दीनता, अभिमान, भय, एवं, चिन्ता के लिये कोई स्थान नहीं है। धर्म प्राणी के छिपे हुए बन्धनों को प्रकाशित कर निकालने का प्रयत्न करता है, किसी नवीन बंधन को उत्पन्न नहीं करता। धर्म थोड़ा लेकर बहुत देना सिखाता है। जिसमें ऐसा बल नहीं है, उसमें धर्म नहीं रहता। धर्म दो निर्बलताओं का संयोग कर, निर्बलताओं को मिटा, त्याग का पाठ पढ़ाता है, किसी को दास नहीं बनाता। जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जिसको उसकी आवश्यकता है, तब धर्म का जन्म होता है। धर्म की पूर्णता तब सिद्ध होती है, जब अपनी प्रसन्नता के लिये संसार की ओर नहीं देखता, प्रत्युत संसार की प्रसन्नता का साधन बन, अपने ही मे अपने प्रीतम को पाकर, नित्य जीवन एवं नित्यरस पाता है।

× × ×

४—२—४५

दुःख से प्राणी का विकास होता है, ह्रास नहीं। सुख से तथा सुख की दासता से प्राणी का ह्रास होता है, विकास नहीं। उन्नतिशील प्राणी सुख का उपभोग नहीं करते, प्रत्युत दुखियों को बाँटते हैं। जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर है, तथा जिसका चित्त बिना आधार के शान्त है, एवं जिसका प्राण बिना निरोध के सम है, उसी को गृह-त्याग का अधिकार है। त्याग सभी निर्बलताओं को खा लेता है, यह सिद्धान्त् निर्विवाद सत्य है। किसी भी शारीरिक

वस्तु को अपना न समझना वास्तविक त्याग है। अपने में से सभी स्वीकृतियों को निकाल देना आन्तरिक संन्यास है। स्वीकृतियों के निकल जाने से निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न होते हैं। सच्चा त्याग किया नहीं जाता हो जाता है। आगे-पीछे का चिन्तन न करो, अपने में ही अपने प्रेमपात्र के अनुभव करने का प्रयत्न करो। शरीर से अभिनय के स्वरूप में धर्मानुसार संसार की सेवा करते रहो। कर्त्तव्य-निष्ठ होने पर अधिकार स्वतः प्राप्त होता है। विचारशील प्राणी सतत प्रयत्नशील रहते हैं। मानवजीवन में भय तथा चिन्ता के लिये कोई स्थान नहीं है। सभी निर्बलताओं की निवृत्ति मानव-जीवन की माँग है। प्रत्येक निर्बलता का ज्ञान अनन्त बल को सिद्ध करता है, जिस प्रकार निर्धनता धन को।

८—२—४५

संयोग का रस वियोग का भय उत्पन्न करता है। इसी कारण विचारशील संयोगकाल में ही सद्भावपूर्वक वियोग देखने का प्रयत्न करते हैं। गहराई से देखिये, स्वरूप से प्रत्येक वस्तु भिन्न है अथवा अभिन्न है? भिन्न को भिन्न समझने पर भी संयोग सिद्ध नहीं होगा, अभिन्न को भिन्न जानने पर भी संयोग सिद्ध नहीं होता। अतः भिन्न से संबंधजन्य एकता होने पर तथा अभिन्न में प्रमादजन्य भिन्नता होने पर संयोग का भाव सिद्ध होता है।

भिन्न को भिन्न, अभिन्न को अभिन्न अनुभव करने पर संयोग में ही वियोग सिद्ध होता है। संयोग मे वियोग देखने से निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, मुदिता, समता, निर्भयता आदि गुण स्वतः उत्पन्न हो विकसित होने लगते हैं। हृदय मे केवल प्रीति की गंगा लहराती है। त्याग का बल सभी निर्बलताओं को खा लेता है। अपने मे ही अपने प्रीतम को पाकर-प्राणी कृत-कृत्य हो जाता है।

× × ×

११-२-४५

सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार उस प्राणी को है, जो यथोचित पालन-पोषण कर सके, अर्थात् उसको योग्य बना सके। पशुओं की भाँति अनेकों बच्चे उत्पन्न करना धर्मविरुद्ध है। मन में छिपी हुई वासनाओं की प्रवृत्ति (जानकारी) पूर्वक निवृत्ति के लिये प्राणी गृहस्थभाव को स्वीकार करता है, अर्थात् विवाह करता है। जब मनमे संसार के सुखों की वासना न रहे, तब शक्ति होते हुए भी विचारशील को सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृत्ति के लिये स्वीकार की जाती है, प्रवृत्ति के लिये नहीं, क्योकि प्रत्येक संयोग का वियोग परम आवश्यक है। प्यारे, शक्तिहीन प्राणियों को तो गृहस्थ होने का अधिकार ही नहीं है, क्योंकि संसार मे उन्हीं प्राणियों को स्थान मिलता है, जो सुखी होते हैं, अर्थात् संसार के काम आ सकते हैं। दुखियों के लिये दुःखहारी हरि के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं रहता।

विचारशील संसार से सुख की आशा नहीं करते, अपने सुख के लिये किसी को दुःख नहीं देते, मिले हुए सुख का अभिमान नहीं करते, प्रत्युत उसको दुखियों की सेवा में लगा देते हैं। दुःख आने पर संसार के दीन नहीं होते बल्कि, आनेवाली कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। जो दुखी त्याग नहीं करता और जो सुखी सेवा नहीं करता, उसकी उन्नति नहीं होती। किसी भी वस्तु को अपना न समझो। हृदय में प्राणिमात्र के हित का भाव हो। बुराई का उत्तर अच्छाई से दो। यदि निर्बलता के कारण न दे सको, तो केवल अपनी रक्षा कर लो, किन्तु बुराई का उत्तर बुराई से न दो। सेवा का भाव सतत जाग्रत रहे। त्याग का बल सभी निर्बलताओं को खा लेता है। त्याग करने में प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है। बुरे से बुरे प्राणी से भी घृणा मत करो। राग-द्वेष मिटाकर हृदय को पवित्र कर डालो। पवित्र हृदय में आनन्द-घन भगवान् निरन्तर निवास करते हैं। प्रीति की गंगा सभी पाप हर लेती है। निर्वैरता का भाव निर्भयता प्रदान करता है। पूज्य-गुरुजनों का सम्मान तथा बालकों को प्यार करने का प्रयत्न करते रहो। अपनी प्रसन्नता के लिये संसार की आशा न करो। थोड़ी थोड़ी देर में व्याकुलतापूर्वक दुःखहारी हरि को पुकारो, अपने में अपने प्रीतम की स्थापना कर अपना सब कुछ उनके समर्पण कर डालो। ऐसा करने से शरीरादि सभी वस्तुयें प्रेमपात्र के पूजन की सामग्री बन जावेंगी। एक क्षण भी बेकार न रहो, संसार की सेवा तथा भगवच्चिन्तन करते रहो।

१-२-४५

जब प्राणी उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर देता है, जो दूसरों के हित तथा प्रसन्नता का साधन नहीं हैं, तब उसकी सभी निर्बलतायें मिटने लगती हैं और छिपी हुई शक्तियों का विकास स्वतः होने लगता है।

अतः विचारशील को दूसरों का अहित करने वाली चेष्टाओं का निरोध करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये, यही वास्तव में तप है। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित होता है, उन्हीं प्रवृत्तियों से अपना हित होता है। पराये काम आनेवाले प्राणियों को अपने काम के लिये किसी नवीन साधन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से अभिन्नता है। भिन्नता केवल स्वार्थभाव अर्थात् भोगबुद्धि से उत्पन्न हुई है। सर्वहितकारीभाव जाग्रत होते ही भोगबुद्धि का अन्त हो जाता है।

भोग-बुद्धि का अन्त होते ही योग बिना ही प्रयत्न हो जाता है। भोग और योग के बीच में केवल स्वार्थ का ही पर्दा है। जब सेवाभाव स्वार्थभाव को खा लेता है, बस उसी काल में भोगी-योगी स्वयं हो जाता है।

× × ×

५-२-४५

जिस प्रकार शुद्ध किया हुआ संखिया बड़े-बड़े भयंकर रोगों के निवारण में समर्थ है, उसी प्रकार प्राकृतिक-विधान के अनुरूप अर्थात् हिन्दू-संस्कृति से संशोधित परिवर्तनशील मानवजीवन नित्य-जीवन का साधन बन जाता है। संस्कृति-जन्य सभी संस्कार

असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर और निर्बलता से बल की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण हिन्दू-संस्कृति में एक जीवन में अनेक जीवन का अनुभव होता है। यज्ञोपवीत संस्कार होते ही शरीरभाव मनुष्य भाव में परिवर्तित हो जाता है। जन्म के अनुरूप शरीर-जन्य स्वभाव का जीवित रहना वास्तव में मानवता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसी दृष्टि से उपनयन संस्कार होने पर गायत्री माता तथा आचार्य पिता हो जाता है और ऋषि-ऋण, देव-ऋण पितृ-ऋण इन तीनों ऋणों से उऋण होने का उत्तरदायित्व आ जाता है।

विकास के लिये जन्म, संस्कार तथा कर्म तीनों ही आवश्यक होते हैं। जन्म केवल छिपी हुई शक्ति है, संस्कार उस छिपी हुई शक्ति को जाग्रत करता है, कर्म संस्कार के अनुरूप फल देता है। अतः जिस वर्ण में जन्म हो उसके अनुरूप संस्कार तथा संस्कार के अनुरूप कर्म करना उन्नति के लिये परम अनिवार्य हो जाता है। जिस प्रकार बीज के परिवर्तन से फल आदि का परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृतिजन्य संस्कारों के द्वारा अहंभाव के परिवर्तन से प्रवृत्ति-परिवर्तन हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि प्रवृत्ति के अनुरूप कर्त्ता एवं कर्त्ता के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होती है। इसी भाव को लेकर तात्त्विक ज्ञान से प्रकाश पाकर ऋषिजीवन में परिणत प्राणियों ने संस्कारों की महत्ता स्थापित की है।

देखो, उन्नति के लिए केवल दो मार्ग हैं—विश्वास तथा

विचार। विकल्प रहित विश्वास और अनुभूति जन्य विचार परम आदरणीय हैं। विचार मार्ग का वही अधिकारी है, जो अपने से भिन्न की ओर नहीं देखता, अर्थात् जिसने अपनी उन्नति को केवल अपने आधार पर ही निर्भर किया है, अर्थात् जिसका जीवन निज ज्ञान के अनुरूप है। यह भली प्रकार समझलो कि ज्ञान ईश्वरीय (Natural) है, किसी व्यक्ति की वस्तु नहीं। जो प्राणी ईश्वरीय ज्ञान को अपनी योग्यता से नहीं अपना सकता, उसके लिये विश्वास-मार्ग ऋषियों ने स्थापित किया है

देखो, जिस प्रकार प्राइमरी स्कूल मे पढ़ने वाला छात्र अध्यापक के विश्वास के आधार पर बड़ी-बड़ी संख्याओं का गुणा कर लेता है, बिना इस बात के जाने कि एक एक इकाई हटाकर गुणनफल क्यो रक्खा जाता है, किन्तु उसके अनुसार करने पर उत्तर ठीक निकलता है, उसी प्रकार आचार्य के विश्वास के अनुरूप जीवन हो जाने पर जो फल तत्त्वज्ञ को होता है, वही विकल्प रहित विश्वासी को मिलता है। अतः उपनयन संस्कार होने पर गायत्री माता एवं आचार्य पिता की अाज्ञानुसार जीवन बनाने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होकर घोर प्रयत्न करना चाहिये।

जिस प्रकार लिपि अर्थ को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक चिह्न मूक-भाषा में स्वधर्म-निष्ठ होने के लिये प्रेरित करता है। अतः धार्मिक चिह्नों को आदर की दृष्टि से

देखना चाहिये, तिरस्कृत दृष्टि से नहीं। जब तक प्राणी में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है, तब तक प्रत्येक विशेष प्रवृत्ति के लिये प्रत्येक प्राणी किसी न किसी प्रकार का वाह्य चिह्न धारण ही करते हैं। फिर हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा तथा विभु परिवर्तन करने वाले चिह्नों को क्यों न धारण करें। सीमाबद्ध जीवन न रहने पर सभी चिह्न बिना प्रयत्न ही मिट जाते हैं। जिस प्रकार विद्यालय से उत्तीर्ण होने पर विद्यालय के सभी शासन बिना ही प्रयत्न छूट जाते हैं, किन्तु परिवर्तन शील जीवन में आबद्ध प्राणी यदि संस्कृति-जन्य चिह्नो का तिरस्कार करता हैं, तो उसकी वही दशा होती है, जो विद्यालय में बिना प्रविष्ट हुए व्यक्ति की होती है। वाह्य-दृष्टि से उन दोनों पर ही विद्यालय का शासन नहीं, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से बड़ा ही भेद है। एक तो विद्यालयसे अभेद हो चुका हैं और दूसरे का विद्यालय से विच्छेद।

अतः जब तक परिवर्तन-शील जीवन नित्य जीवन से ˆ न हो जावे, तब तक वर्णाश्रम के अनुसार संस्कार तथा चिह्न को धारण करना परम अनिवार्य है। यह भली प्रकार समझलो कि मिली हुई जन्म सिद्ध शक्ति के अनुसार यदि संस्कार न किया और संस्कार के अनुरूप कर्म न किया तो वही दशा होगी जो प्राप्त पूंजी के लुट जाने पर धनी की होती है। अतः प्रत्येक उन्नतिशील मानव को प्राकृतिक विधान अर्थात् हिन्दू-संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम-धर्म तथा धार्मिक सभी संस्कारों को बिधिवत धारण करने का अथक प्रयत्न करना चाहिये।

कराँची

६-४-४६

भक्त वर,

सर्वदा अभय रहो ।

तप से शक्ति, त्याग से शान्ति, अपनत्व से प्रीति, सेवा से पवित्रता स्वतः आ जाती है ।

अहितकारी चेष्टाओं का अन्त कर हितकारी चेष्टाओं का करना तप है । किसी भी वस्तु को अपना न समझना त्याग है । सब प्रकार से प्रेम-पात्र का हो जाना अपनत्व है । सर्व-हितकारी भावनाओं का सतत जाग्रत रहना सेवा है ।

देखो बेटी, उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर दो, जो दीनता तथा अभिमान उत्पन्न करती हों, जब प्राणी संसार की सहायता से प्रसन्नता नहीं लेता, तब दीनता मिट जाती है । जब किसी भी वस्तु को अपना नहीं समझता तब अभिमान मिट जाता है । दीनता तथा अभिमान मिट जाने पर हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है ।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

तुम्हारा अभेद स्वरूप

× × ×

भक्त होकर संस्कृति के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति भगवत्प्राप्ति का साधन हो सकती है, किन्तु बिना भक्त हुए भगवच्चिन्तन भी भगवत्प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता । भक्त वही है

जिसकी आवश्यकता भगवान् हैं।

वस्तु, अवस्था, परिस्थिति भाग्य के अनुसार प्राप्त होती है, परन्तु उत्कृष्ट क्रियामान् कर्म भी भाग्य हो जाता है।

संसार को संसार जान लेने पर, प्राप्त सुख को दुखियों की सेवा मे लगा देने पर, सद्भाव पूर्वक भगवान् का हो जाने पर संसार की वस्तुओं से वैराग्य तथा भगवदनुराग स्वतः उत्पन्न हो जाता है। भजन तो प्रत्येक प्राणी करता है, अन्तर केवल इतना ही है कि कोई तो एक का भजन करता है और कोई अनेक का, अर्थात् भक्त एक का और विषयी अनेक का।

× × ×

दिल्ली

१५-११-४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

प्रत्येक प्राणी अपने बनाये हुए दोष को मिटाने में सर्वथा स्वतन्त्र है, अतः उन्नति से निराश होना परम भूल है।

दोष का ज्ञान जिस शक्ति से होता है उसी में दोष मिटाने की शक्ति भी विद्यमान है। अपना बनाया हुआ दोष मिटते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है।

निर्दोषता किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं, उस पर सभी प्राणियों का अधिकार है, अर्थात् निर्दोषता के सभी अभिलाषी उसे स्वतन्त्रता पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं।

जब प्राणी अपने स्वीकार किये हुए दोनों प्रकार के संबंधों (भेदभाव तथा अभेदभाव) का त्याग कर देता है, तब प्रेम-पात्र से प्रियता एवं प्रेम-पात्र की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भेद-भाव के संबंधों का त्याग करते ही प्रेम-पात्र से ममता अर्थात् प्रियता उत्पन्न हो जाती है। अभेद-भाव के संबंधों का त्याग करते ही अपने में ही प्रेमास्पद का अनुभव हो जाता है, क्योंकि सीमित अहंभाव के मिटते ही असीम निर्दोष-परम-तत्व से अभिन्नता हो जाती है।

संबंध किसी अभ्यास के द्वारा नहीं मिटाये जा सकते, क्योंकि सभी अभ्यासों का जन्म संबंधों से होता है अर्थात् ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं होती जिसका जन्म किसी स्वीकृति से न हो। यह भली प्रकार समझ लो कि अनन्त काल की स्वीकृति वर्तमान् की अस्वीकृति से मिट सकती है। अतः प्रत्येक प्राणी सद्भाव-पूर्वक की हुई स्वीकृतियों को स्वेच्छा पूर्वक जब चाहे तभी मिटा सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। सभी स्वीकृतियों का अभाव होते ही निर्वासना आ जाती है। निर्वासना आते ही सभी दोष मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है, जो प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेदस्वरूप

× × ×

चम्बल-तट
अवारी
१४-२-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

सुख तथा दुःख दिन रात के समान आने जानेवाली वस्तुयें हैं। विचारशील सुख का लालच तथा दुःख का भय निकाल देते हैं।

जिसका मन सुख-दुःख के बन्धन से छूट जाता है, उसके हृदय में पवित्र प्रीति स्वतः उत्पन्न होती है, क्योंकि सुख-दुःख से छूटते ही आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है। आगे पीछे का चिन्तन मिटते ही प्रेम-पात्र का ध्यान स्वतः होने लगता है। ज्यों ज्यों ध्यान स्थायी होता जाता है, त्यों त्यों प्रेमी का हृदय प्रीतम की प्रीति से भरता जाता है।

शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। सब प्रकार से प्रेम-पात्र की होकर अचिन्त तथा अभय हो जाओ संसार से सच्ची निराशा ही परम तप है। राग-द्वेष-रहित होना ही सच्ची पवित्रता है। त्याग तथा प्रेम परम-साधन हैं, आत्म-समर्पण ही सच्चा भजन है। प्रेम-पात्र की कृपा का सहारा ही परम बल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका अभेदस्वरूप

× × ×

जो क्रिया-शक्ति उपभोग में व्यय नहीं होती, वही सेवा में व्यय होती है, जो प्रीति किसी वस्तु में आबद्ध नहीं होती वही प्रेम-पात्र (सर्वसमर्थ भगवान्) तक पहुँचती है। जो ज्ञान पदार्थों के उपार्जन में व्यय नहीं होता, वही परम-तत्व से अभिन्न होता है।

× × ×

ऋषीकेश

३०-५-४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

तुमने केवल जब से यह स्वीकार किया है कि मैं भगवान की हूँ, तब से तुम्हारी आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति के सभी साधन स्वतः उत्पन्न होते जारहे हैं। अतः तुमको भगवान् की सुधामयी पतित-पावनी सर्व-समर्थ अहैतुकी कृपा पर दृढ़ विश्वास कर अचिन्त हो जाना चाहिये। ज्यों ज्यों अचिन्तता बढ़ती जायगी, त्यों त्यों आवश्यक शक्तियों का विकास स्वतः ही हो जायेगा।

यह भली प्रकार समझलो कि भक्त के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिये कोई स्थान नहीं है। ज्यों ज्यों भक्त का हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छकता जाता है, त्यों त्यों अदृश्य से उत्पन्न हुआ सुख-दुःख स्वतः मिटता जाता है। अतः तुम्हारे व्यथित हृदय में प्रेम-पात्र की प्रीति की गंगा निरन्तर लहरानी चाहिये। देखो

बेटी, दुःख भूल जाओ, भूतकाल भूल जाओ, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो, सब प्रकार से भगवान् की होकर उनकी कृपा की प्रतीक्षा करती रहो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका अभेदस्वरूप

× × ×

कलकत्ता

३०–१–४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

प्राणी जिन-जिन वस्तुओं को प्रेम-पात्र के समर्पण कर देता है, वे वस्तुयें स्वतः पवित्र होकर प्रेम पात्र के पूजन की सामग्री बन जाती हैं। अतः तन मन आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो, यही महामन्त्र है।

जितेन्द्रियता, विश्व-सेवा तथा भगवच्चिन्तन ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सभी दोष निर्दोषता में बदलते जाते हैं।

विचारशील अपनी दृष्टि से केवल अपने ही दोषों को देख उनके त्याग का दृढ़ संकल्प कर अपने में निर्दोषता की स्थापना कर अचिन्त हो जाते हैं।

सच्चे भक्त के हृदय में लेश-मात्र भी रागद्वेष शेष नहीं रहता। राग-द्वेष मिटते ही पवित्र प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। सच्चा प्रेमी प्रीति बनकर प्रीतम से अभिन्न होता है।

जो साधक कभी किसी के दोषों को नहीं देखता, उसको साधन में सफलता अवश्य होती है, क्योंकि पराये दोष न देखने से चित्त निर्मल हो जाता है।

भक्त वही है, जो संसार से निराश होकर सब प्रकार से प्रेम-पात्र का हो जाता है। आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से ध्यान अपने आप होने लगता है। जिस मन से वस्तुओं की सत्यता तथा प्रियता निकल जाती है, वही मन प्रेम-पात्र की पवित्र प्रीति का आस्वादन कर सकता है।

साधन वही सार्थक है, जो सहज तथा स्वाभाविक हो, अतः निरन्तर सहज-भाव से प्रेम-पात्र को पुकारो।

प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा का वल सभी वलों से श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रेम-पात्र की कृपा प्रेम-पात्र को मोहित करने में समर्थ है। अतः जिन प्राणियों ने उनकी कृपा का सहारा लिया, वे सभी मुक्त हो गये, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ज्यों ज्यों मन वाहरी सहारे छोड़ता जाता है, त्यों त्यों प्रेम-पात्र की कृपा का वल स्वतः मिलता जाता है। अतः अपने को सभी वाह्य वस्तुओं से असंग कर लो, अर्थात् किसी भी वस्तु के आधार पर प्रसन्नता मत खरीदो।

किसी भी व्यक्ति से एकान्त में मत मिलो, आवश्यकता से अधिक वातचीत मत करो। एकान्त में प्रेम-पात्र के गीत गाया करो। जहां तक हो सके अकेले रहने का स्वभाव वनाओ, क्योंकि अकेले होने पर ही भगवच्चिन्तन हो सकता है। वाहरी

साधन से कहीं अधिक आन्तरिक साधन सबल होता है, अतः हृदय से व्याकुलता-पूर्वक प्रेम-पात्र की प्रतीक्षा करती रहो।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द
आपका अभेदस्वरूप

× × ×

यमुना-तट,
दिल्ली
१५—१२—४५

प्रसन्न-चित्त रहने का स्वभाव बनाओ, अपने दुःख का कारण किसी अन्य को न समझो, मोह-युक्त प्राणी स्थायी प्रसन्नता कदापि नहीं पाता है।

ज्यों ज्यों निर्मोहता स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः होती जाती है। सद्भाव-पूर्वक मोह-जनित सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर "मैं भगवान् का हूँ" इस भाव में सत्यता आ जाती है, क्योंकि किसी का त्याग किसी की एकता हो जाती है।

सम्बन्ध तोड़ने तथा जोड़ने में प्राणी सर्वथा स्वतन्त्र है, इसके लिये कहना कि धीरे-धीरे होगा, अथवा किसी और की सहायता से होगा, केवल छिपे हुए मोह की रक्षा करना है, अथवा अपने आपको धोखा देना है, जो किसी भी भक्त को शोभा नहीं देता।

भक्त होने पर भक्ति अपने आप आ जाती है। यदि हृदयों में प्रेम-पात्र की प्रीति की गंगा नहीं लहराती, तो समझ लो कि "मैं भक्त हूँ" इस भाव की दृढ़ता नहीं हुई, अर्थात् मैं सब प्रकार से भगवान् की हूँ, इस भाव का सद्भाव नहीं हुआ।

भाव तथा अभ्यास में बड़ा भेद है। भाव वर्तमान में फल देता है और अभ्यास भविष्य में फल देता है। भाव कर्ता के आधीन है और अभ्यास शरीर आदि की सहायता से होता है, अर्थात् अभ्यास के लिये बाहरी अनुकूलता आवश्यक है, किन्तु सद्भाव के लिये बाह्य अनुकूलता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् निर्बल के बल हैं। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चा दुखी सुखी की अपेक्षा कहीं अधिक सुगमतापूर्वक प्रेम-पात्र के प्रेम को पाकर सब प्रकार से अभय हो जाता है।

तन मन आदि को प्रेम-पात्र के पूजन की सामग्री बना दो। यह तब हो सकता है, जब आप तन मन आदि को अपना न समझें। जिन-जिन वस्तुओं को आप अपना न समझेंगी, वे स्वयं पवित्र होकर भगवान् की सेवा के योग्य बन जावेंगी, यह परम सत्य है। प्राणी सबसे बड़ी भूल यही करता है कि जो वस्तु वास्तव में अपनी नहीं है, उसे अपनी मान लेता है। इस भूल के निकल जाने पर जीवन-यात्रा सुगम तथा स्वतन्त्र हो जाती है। ऐसा जीवन की घटनाओं से अनुभव हुआ है।

जिन-जिन साधनों से शरीर का हित हो उनको निःसंकोच

निर्भयता-पूर्वक करना चाहिये। मन की दासता में फंसकर शारीरिक हित की चेष्टाओं को न करना परम भूल है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेदस्वरूप

× × ×

दयाल-बाग, आगरा

८-१-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, जब तुम सच्ची भक्त हो जाओगी और तुम अपने में अपना कुछ नहीं पाओगी, अर्थात् तुम्हारी प्रत्येक वस्तु सच्चाई पूर्वक प्रेम-पात्र की हो जावेगी, तो उन सभी का कल्याण अवश्य ही हो जायगा, जिनको तुम अपना मानती थीं, परन्तु जब तक तुम लेश-मात्र भी उन सभी सम्बन्धियों को अपना समझोगी, तब तक उनका सुधार कदापि नहीं हो सकता। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चा त्याग आ जाने पर पूर्व कर्मों का फल भी बदल जाता है, क्योंकि सच्चा त्याग वास्तव में मृत्यु के समान है, अर्थात् त्याग से जीवन में ही मृत्यु तथा नवीन जीवन मिल जाता है। अतः प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध तोड़ कर सब प्रकार से सद्भाव-पूर्वक प्रेम पात्र की हो जाओ।

तुम को सब लोगों के साथ रहते हुए भी अकेले के समान रहना चाहिये, अर्थात् किसी भी व्यक्ति से इतनी घनिष्टता न हो

कि वह व्यक्ति तुम से बेकार बातें करे, अर्थात् तुम किसी को भी अपने मन बहलाने का साधन मत बनाओ। मन को भगवच्चिन्तन में लगा रहना चाहिये। जो प्राणी मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, वह सच्चा भक्त नहीं हो सकता, यह परम सत्य है।

किसी भी व्यक्ति को बुरा तथा भला मत समझो, क्योंकि दूसरों को बुरा समझने से मन में बुराई आ जाती है और प्रेम-पात्र के अतिरिक्त दूसरों को भला समझने से प्रेम-पात्र का विश्वास मिट जाता है और मन संसार का दास बन जाता है, जो दुःख का मूल है। सच्चे भक्त केवल प्रेम-पात्र के पवित्र गुणों को और अपने दोषों को देखते हैं, किन्तु दोष देखकर उनके मिटाने के लिये प्रेम-पात्र से व्याकुलता-पूर्वक हृदय से प्रार्थना कर निर्दोष हो जाते हैं।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेदस्वरूप

× × ×

बलरामपुर

१३-३-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

तुमको अपना स्वभाव छोटे छोटे बालकों की भांति सरल तथा सच्चा बनाना चाहिये। किसी भी प्रतिकूल बात को

सुन कर मन में क्रोध का भाव उत्पन्न होना तथा संकोच आ जाना सरल स्वभाव नहीं है। सरलता से मन स्वस्थ हो जाता है और संकोच तथा भय से मन निर्बल हो जाता है। तुमको अपना मन स्वस्थ तथा सबल बनाना चाहिये।

जब तुम सब प्रकार से प्रेम पात्र की हो चुकी हो, तो फिर संकोच तथा भय के लिये कहाँ स्थान है? क्यों कि सभी तो प्रेम-पात्र के बनाये हुए खिलौने हैं। जो बात मन में उत्पन्न हो उसको स्पष्ट सभ्यता-पूर्वक प्रकट कर दो। मन में किसी भी बात को जमा मत रक्खो।

देखो बहिन, मन प्रेम-पात्र के रहने का मन्दिर है, उसमें संसार का कचड़ा मत भरो। मैं लेश-मात्र भी तुम्हारी स्वतन्त्रता नहीं छीनता, किन्तु जो भाव उत्पन्न होता है, प्रकट कर देता हूँ।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेदस्वरूप

× × ×

दिल्ली

१६-११-४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

विचार-शील अपने आप आई हुई परिस्थिति का सदुपयोग करते हैं। तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता अपने आप मिट जायगी। प्रेम-पात्र के सिखाने के

अनेक ढंग हैं। तुम्हारा हृदय कोमल है, इसलिये वेदनाओं से घबरा जाती हो। हृदय से प्रेम पात्र को पुकारो, वे सब कुछ कर सकते हैं। संसार कुछ नहीं कर सकता, यदि तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। असत्य कितना ही सबल हो, किन्तु निर्बल ही होता है। सत्य बाह्य-दृष्टि से कितना ही निर्बल हो, किन्तु सबल ही होता है, अर्थात् तुम्हारा सद्भाव तुम्हारे काम आवेगा। प्रेम-पात्र की जिस अहैतुकी कृपाने तुमको टी. बी. (T.B.) जैसे भयंकर रोग की वेदना से बचाया है, उसीका सहारा लो, डरो मत। दुःख डरने से दूना और न डरने से आधा रह जाता है।

दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने आता है, उसको पढ़लो और अभय हो जाओ। तुम तो सब प्रकार से भगवान् की होकर अचिन्त हो जाओ। जो प्राणी अपने सद्भाव का आदर करता है, उसकी विजय अवश्य होती है। तुमने बड़ी-बड़ी भयंकर वेदनाओं को सहकर अपने स्वधर्म की रक्षा की है, वह धर्म तुम्हारी रक्षा अवश्य करेगा। अब तुम्हारे जीवन का विकास होगा। इस कारण अनेक प्रतिकूलतायें आयेंगी और अपना अभिनय दिखा कर चली जायेंगी। तुम शान्ति-पूर्वक प्रेम-पात्र की सुधामयी कृपा की लीला देखती रहो। सभी उलझनें स्वयं सुलझ जावेंगी। प्रतिकूलता आने पर डरा मत करो। डरने से प्रेम-पात्र का विश्वास दूषित हो जाता है। सच्चे प्रेमी प्रसन्नता-पूर्वक फाँसी पर चढ़ जाते हैं, बड़ी से बड़ी वेदना को

अपना लेते हैं, अर्थात् प्रेमी के हृदय में भय के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

दयालबाग, आगरा

१७—१२—४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो, तुमको इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि तुम्हारा जीवन केवल भगवच्चिन्तन के लिये है, क्योंकि मेरी दृष्टि में तुम्हारा दूसरा जन्म है, क्योंकि टी. बी. (T. B.) जैसे भयंकर रोग से प्रायः जीवन नहीं रहता।

भगवच्चिंतनके लिये मनकी पवित्रता तथा शारीरिक स्वस्थता परम आवश्क है। मन की पवित्रता के लिये तो प्राणी स्वतंत्रता-पूर्वक साधन कर सकता है। यह नियम है कि मन के पवित्र होने पर मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता स्वतः आ जाती है और इन तीनों बातों के आ जाने से प्राण-शक्ति सबल हो जाती है, प्राण के सबल होने से शरीर में रोग मिटाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, अतः तुमको मन पवित्र करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

ज्यों ज्यों प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा का भरोसा दृढ़ तथा स्थायी होता जाता है, त्यों त्यों सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं।

अतः सब प्रकार से सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र का होकर अभय हो जाना चाहिये।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

देहली

४-२-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, यदि तुम्हारे मन से संसार का चिन्तन मिट जायगा, तो वह मन प्रेम-पात्र के रहने का स्थान बन जावेगा, क्योंकि जिस मन से संसार की चाह निकल जाती है, उस मन में वे सदा निवास करते हैं।

ज्यों ज्यों तुम्हारा हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से छकता जायेगा, त्यों त्यों सभी दोष स्वतः मिटते ही जावेंगे, क्योंकि प्रेम-पात्र की प्रीति पतित से पतित प्राणी को भी पवित्र एवं असमर्थ को समर्थ कर देती है, अतः हृदय में निरन्तर प्रेम-पात्र की प्रीति की गंगा लहरानी चाहिये।

जो प्राणी पराये दोष नहीं देखता, उसे अपनी निर्बलता देखने का अवसर तथा योग्यता आ जाती है, जो उन्नति का मूल है; क्योंकि अपनी निर्बलता देख लेने पर उसके मिटाने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः भूल कर भी किसी अन्य के दोष मत देखो, सच्चे भक्त अपने गुण तथा दूसरों के दोष नहीं देखते हैं।

बेटी, जो प्राणी बाहरी साधनों में अपने को अधिक बांध लेता है, उसमें मिथ्या साधन का अभिमान आ जाता है। बाहरी साधन निर्बलताओं को ढक देता है, मिटा नहीं पाता है। इस कारण तुमको अधिक बाहरी बातों में नहीं फँसना चाहिये। यह भली प्रकार समझलो कि छिपा हुआ साधन बाहरी साधनों से कहीं अधिक सबल होता है, छिपा हुआ त्याग तथा प्रेम बढ़ जाता है, छिपी हुई प्रीति सच्ची व्याकुलता उत्पन्न करती है, जो वास्तव में सच्चा भजन है। किसी ने भी बहुमूल्य वस्तुओं को बाहर निकाल कर नहीं रक्खा, सभी छिपा कर ही रखते हैं। अतः प्रीति जैसी अमूल्य वस्तु को हृदय में छिपा कर रखना चाहिये।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

आगरा

२०-१२-४५

भक्तवर,

देखो बेटी, भक्त होने के लिये मोह-जनित सभी संबंध सच्चाई पूर्वक तोड़ने परमावश्यक हैं। संबंध टूट जाने पर मोह मिट जावेगा। मोह के मिट जाने पर हृदय सेवा के योग्य बन जावेगा। तब तुम भगवत् नाते सेवा कर सकोगी। देखो बेटी, बालिकाएं तुम्हारी होकर प्रसन्न नहीं रह सकतीं, तुम संसार की होकर प्रसन्न नहीं रह सकतीं, क्योंकि दुःखी के लिये

संसार में कोई स्थान नहीं है और दुखी को किसी की सेवा का अधिकार भी नहीं है। सेवा सुखी प्राणियों का साधन है, दुखियों का नहीं। दुखियों का साधन एक मात्र त्याग है, अतः तुमको त्याग अपना लेना चाहिये, अर्थात् शरीर मन आदि किसी भी वस्तु तथा संबंधी को अपना मत समझो। जब तुम सच्चाई के साथ अपनी सभी वस्तुओं को सर्वसमर्थ भगवान् के पतित-पावन श्री-चरणों पर चढ़ा दोगी, तभी तुमको सच्ची स्थायी प्रसन्नता मिल सकेगी।

यह भली प्रकार समझ लो कि ज्यों ज्यों तुम्हारा मन भय तथा चिन्ता एवं संसार की आशाओं से ऊपर उठता जावेगा, त्यों त्यों मन मे स्थिरता तथा प्रसन्नता अपने आप आती जावेगी। ज्यों ज्यों स्थिरता तथा प्रसन्नता एवं निर्भयता बढ़ती जावेगी, त्यों-त्यों रोग मिटाने की शक्ति स्वतः आती जायेगी। यह सभी विचार शीलों का मत है कि प्राणी के मन में अनन्त शक्ति है, किन्तु मन के दूषित हो जाने के कारण अनन्त शक्ति दब जाती है। उस छिपी हुई शक्ति को जाग्रत करने के लिये मन के सभी दोष मिटाने पड़ेंगे, जो प्राणी ने स्वयं बनाये हैं।

ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसको प्राणी ने स्वयं नहीं बनाया है। शरीर आदि वस्तुओं के आधार पर प्रसन्नता खरीदने की भावना सभी दोषों का मूल है। जिस साधक ने यह समझ लिया है कि मिली हुई वस्तुओं का केवल सदुपयोग करूंगा, किंतु किसी भी वस्तु के आधार पर अपने को जीवित नहीं रक्खूंगा,

अर्थात् सभी वस्तुओं से अपना मूल्य बढ़ा लूंगा, उस साधक का मन अपने आप पवित्र होने लगता है, क्योंकि वस्तुओं की दासता ने मन को अपवित्र किया है।

माताएं अपने खान-पान के विषय में ध्यान नहीं देतीं। यह उनकी धारणा त्यागमय अवश्य है, परन्तु विचार-युक्त त्याग नहीं है। शरीर से अहन्ता का त्याग वास्तविक त्याग है। शरीर की निर्मोहता आदरणीय है, शरीर के साथ हित का व्यवहार न करना अन्याय है, शरीर की चिन्ता करना भूल है। शरीर की चिन्ता के लिये जीवन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि शरीर स्वभावतः मिट रहा है। रोग का भय परम रोग है। अतः उसका त्याग अनिवार्य है।

× × ×

वर्तमान परिस्थित का सदुपयोग करने पर छुट्टी अपने आप मिल जाती है, वाह्य छुट्टी छुट्टी नहीं होती अपितु कार्य का परिवर्तन होता है। साधारण प्राणी कार्य के परिवर्तन को छुट्टी मानते हैं, परन्तु विचार-शील काम का अन्त करने पर छुट्टी जानते हैं। काम का अन्त आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति पर होता है, किसी नवीन परिस्थिति के आ जाने पर छुट्टी नहीं होती। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग छुट्टी का सर्वोत्कृष्ट साधन है। अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आने पर भी कभी हार स्वीकार नहीं करनी चाहिये क्योंकि जो हार स्वीकार नहीं करता, वह विजय अवश्य पाता है। प्यारे,

प्राकृतिक विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है; अतः परिस्थिति का सदुपयोग करने पर उन्नति अवश्य होती है।

× × ×

चम्बल-तट
अवारी
४-१-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी, जो प्राणी लेश-मात्र भी संसार का चिन्तन नहीं करता तथा जिसने सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, वही दूसरों के द्वारा सेवा कराने का अधिकारी है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की सेवा करने से सेवा करनेवालों का हित होता है, अतः तुमको सच्चाई-पूर्वक मन से संसार को निकाल देना चाहिये। तभी तुम प्रेम-पात्र का प्यार पा सकती हो।

प्राणी जिस वस्तु को अपना नहीं मानता, उसका मन में चिन्तन नहीं होता और जिस वस्तु को अपना मानता है, उसका चिन्तन-ध्यान अपने आप होने लगता है। यह सिद्धान्त परम सत्य है।

शरीरादि सभी वस्तुओं को अपना मत समझो, फिर तुमको उनका चिन्तन ध्यान नहीं होगा। केवल प्रेम-पात्र को अपना समझो, ऐसा करने से हृदय में प्रेम-पात्र की प्रीति स्वतः जाग्रत

होगी और मन से प्रेम-पात्र का चिन्तन-ध्यान अपने आप होने लगेगा, जो सभी दोषों को मिटाने में समर्थ है।

बाहरी साधनों में अपने को अधिक मत फंसाओ। जहाँ तक हो सके हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारो। उनकी अहैतुकी कृपा का बल सर्व समर्थ है, अतः निरन्तर प्रेम-पात्र की कृपा की प्रतीक्षा करती रहो।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

१३-१२-४५

संसार से न्याय तथा प्रेम की आशा मत करो, परन्तु अपनी ओर से न्याय तथा प्रेम-युक्त व्यवहार करते रहो। विचारशील अपने को बदलने का प्रयत्न करते हैं और साधारण प्राणी दूसरे को बदलने का प्रयत्न करते हैं। जो प्राणी अपने मन को ठीक कर सकता है, उसीके जीवन से संसार का हित हो सकता है, अतः अपने मन को पवित्र करने का प्रयत्न करते रहो। मन के पवित्र हो जाने पर संसार की अनुकूलता की आशा तथा प्रतिकूलता का भय मिट जाता है। विचारशील अपने दुःख का कारण किसी अन्य को नहीं मानते। शरीर तथा मन के हित का ध्यान रक्खो, किन्तु शरीर तथा मन की दासता का त्याग करो। जो प्राणी शरीर तथा मन का दास नहीं रहता वह बड़ी सुगमता-पूर्वक संसार की दासता से छूट जाता है।

शरीर तथा मन का दास कितना ही सबल क्यों न हो, उसे विवश होकर संसार की दासता उठानी पड़ती है और उसके हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा जलती रहती है। पवित्र मन में प्रेमपात्र अपने आप आजाते हैं; अतः यदि प्रेम-पात्र को बुलाना है, तो शीघ्रातिशीघ्र मन को पवित्र कर डालो। मन के पवित्र करने में प्रत्येक प्राणी सर्वथा स्वतन्त्र है, क्योंकि उसके लिये किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

सयोग की आशा न करने से, अर्थात् जिसका वियोग अनिवार्य है, उसकी वासना का त्याग करने से और संयोग-काल में ही वियोग देखने से निर्वासना आ जाती है। ज्यों ज्यों निर्वासना स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों हृदय में निर्वैरता, निर्भयता निःसंकल्पता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण उत्पन्न होने लगते हैं। जो प्राणी अपने मन से वस्तुओं का चिन्तन-ध्यान निकाल देता है, उसके मन में पवित्र प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। जो प्राणी मन को किसी वस्तु तथा पुस्तक आदि के आधार पर बहलाता रहता है, उसके हृदय में प्रेम-पात्र के लिये सच्ची व्याकुलता जाग्रत नहीं होती। अतः जहां तक हो सके मन को किसी बाहरी आधार में बंधने मत दो। उससे कहदो, प्यारे मन, तुमको चिन्तन करना है, तो प्रेम-पात्र-का करो, अथवा स्थिर हो जाओ, मिटनेवाली वस्तुओं के सहारे पर क्या तुमको स्थायी प्रसन्नता मिल सकती है ? कदापि

नहीं। मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करो, किन्तु अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मत करो। मिली हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करने से वस्तुओं का तिरस्कार होगा, जो उचित नहीं है। प्राप्त वस्तुओं के चिन्तन से वस्तुओं की दासता उत्पन्न होगी, जो परतंत्रता का मूल है। इसी कारण विचारशील न तो प्राप्त वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं और न अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा करते हैं। त्याग तथा संबंध धीरे धीरे नहीं होता, क्योंकि कर्त्ता के अधीन है। धीरे-धीरे वही बातें की जाती हैं, जो संसार की सहायता के बिना नहीं हो सकतीं। संबंध तथा त्याग के लिए संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। संबंध से प्रीति और त्याग से आनंद अवश्य मिल जाता है, परन्तु जब प्राणी शरीर आदि वस्तुओं से संबंध कर लेता है, तब प्रीति मिटकर मोह बन जाती है, जो हृदय में भयंकर वेदना उत्पन्न करती है। इसी कारण विचारशील शरीर आदि वस्तुओं से संबंध-विच्छेद कर लेते हैं और वस्तुओं का त्याग प्रेम-पात्र से अभिन्नता तथा प्रेम-पात्र का त्याग वस्तुओं की दासता उत्पन्न करता है। विचारशील वस्तुओं को त्याग, प्रेम-पात्र के प्रेम को पाकर अभय हो जाते हैं।

× × ×

दारा-नगर

बनारस

२७-१-४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

देखो बेटी! मन में किसी को बुरा मत समझो, परन्तु स्त्री-शरीर होने के कारण तुमको आदमी के शरीर से सांप-बिच्छू के समान डरना चाहिये अर्थात् एकान्त में किसी भी आदमी से नहीं मिलना चाहिये।

यह भली प्रकार समझलो कि लीलामय भगवान् ने तुमको जीवन तप-त्याग तथा भगवच्चिंतन के लिये दिया है। अतः लेश-मात्र भी संसार की वस्तुओं का चिंतन नहीं करना चाहिये। मोह-जनित सभी संबंधों को विचार-पूर्वक तोड़ दो। अपने में ही प्रेम-पात्र की स्थापना कर सब प्रकार से अचिन्त तथा अभय हो जाओ। शारीरिक पीड़ा को तप समझ कर प्रसन्नतापूर्वक सहन करते रहो। कमरा बन्द कर अकेले रहने का स्वभाव बनाओ। दिन में छत के ऊपर टहल लिया करो और अकेले में भगवत्-प्रेम के गीत गाया करो।

ॐ आनंद आनंद आनंद

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

मिटाने का सब से सुगम उपाय यही है कि तुम शरीर को अपना मत समझो और मूक होकर हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारती रहो, क्योंकि दुखी की पुकार दुःखहारी हरि के अतिरिक्त कोई सुन नहीं सकता, क्योकि संसार में दुखी के लिये कोई स्थान नहीं है।

× × ×

चम्बल-तट
अवारी
२८-१२-४५

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

आपने अपने पत्र में लिखा कि मेरा मन अकेला है। बड़े दुःख की बात है कि इतने दिन सत्संग करने के पश्चात् भी तुम्हारा मन तुम्हारा है, अथवा प्रेमपात्र के बिना अकेला है। अकेला मन वास्तव में कभी होता नहीं, क्योंकि मन का जन्म ही तब होता है, जब किसी न किसी प्रकार की वासना उत्पन्न हो जाती है। तुम अभी इस गहराई को समझ नहीं पातीं।

यह मैं भली प्रकार जानता हूँ कि तुम्हारा दुखी हृदय पवित्र प्रीति तथा सम्मान का भूखा है। किन्तु लाली, यह भली प्रकार समझ लो कि पवित्र प्रीति प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रीति प्रीतम का स्वभाव तथा प्रेमी की मांग है। तुमको अनेक भक्त-जनों द्वारा प्रीतिरूपी प्रसाद मिला है, वह भी वास्तव में प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा है। ज्यों

ज्यों भक्तों का सीमित अहंभाव गलता जाता है, त्यों त्यों उनके हृदय में प्रेम-पात्र की पवित्र प्रीति की गंगा लहराने लगती है। साधारण प्राणी उस प्रीति को किसी व्यक्ति की प्रीति मान लेते हैं, जो वास्तव में भूल है। व्यक्ति तो केवल मोह कर सकता है, प्रीति नहीं, जो दुःख का मूल है।

यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चे त्याग के बिना सम्मान तथा स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती और सच्चा त्याग आ जाने पर संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं छीन सकती।

जिस प्रकार मछलियों के उछलने कूदने से जल को खेद नहीं होता, उसी प्रकार संसार की ओर से आनेवाले अनेक आक्रमणों से भक्त के हृदय में खेद नहीं होता। फिर न मालूम आपका मन छोटी-छोटी बातों से क्यों घबड़ा जाता है। यह भली प्रकार समझलो कि सत्य देखने में कितना ही छोटा हो और असत्य देखने में कितना ही बड़ा हो, किन्तु अन्त में सत्य की जय होती है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनंद आनंद आनंद

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

६-१०-४२

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन, नित्य जीवन का साधन है, जीवन नहीं। गहराई से देखिये, प्रत्येक प्राणी के हृदय में वर्तमान

अवस्था के परिवर्तन की रुचि अवश्य होती है। परिवर्तन की रुचि वर्तमान जीवन को जीवन स्वीकार नहीं करने देती। यह नियम है कि जब हम साधन को ही साध्य मान लेते हैं, तब साध्य से विमुखता और साधन में आसक्ति अपने आप हो जाती है। साधन की आसक्ति साधन में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है, जो वास्तव में प्रमाद है। अतः वर्तमान जीवन को नित्य जीवन का साधन मानना चाहिये, जीवन नहीं। आवश्यकता का प्रमाद अनेक प्रकार की इच्छाओं का स्वरूप धारण करता है। आवश्यकता जाग्रत होने पर जब सभी इच्छायें उसमें विलीन हो जाती हैं, तब आवश्यकता पूर्ति की योग्यता अपने आप आ जाती है। नित्य जीवन से देशकाल की दूरी कदापि नहीं हो सकती। प्यारे, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसके लिये भविष्य की आशा के आधार पर चैन से रहना कहां तक न्यायपूर्ण है? भला किसी भी प्रेमी को अपने प्रेम पात्र से दूर रहना शोभा देता है। जब हम सद्भाव-पूर्वक अपनी अहंता आदि सभी मन, बुद्धि यंत्रों को नित्य अनन्त-शक्ति (Universal Energy) के समर्पित कर देते हैं, तब वह अवश्य अपना लेते हैं। इस अभागे सीमित अहंभाव ने हमसे हमारे प्रेम-पात्र की दूरी उत्पन्न कर दी है, अतः सीमित अहंता की सत्ता अस्वीकार करना हमारे लिये अनिवार्य हो गया है। साधारण प्राणी प्रवृत्ति को सत्ता मान लेते हैं। यदि प्रवृत्ति सत्ता होती, तो उसकी स्वाभाविक निवृत्ति कदापि नहीं होती। स्वाभाविक निवृत्ति, प्रवृत्ति को केवल अवस्था

स्वीकार करती है। अवस्था का जीवन केवल राग के आधार पर जीवित है, अतः राग-निवृत्ति के लिये मानी हुई स्वीकृति का त्याग होते ही हम प्रेम-पात्र से विभक्त नहीं रहते, अर्थात् भक्त हो जाते हैं। भक्त होते ही भक्ति अर्थात् निर्वासना अपने आप आ जाती है, क्योंकि भक्ति भक्त का स्वभाव है। भक्त होने पर भक्ति आयेगी, क्योंकि अहंता के अनुरूप प्रवृत्ति होती है। भक्ति किसी प्रवृत्ति का नाम नहीं है। सच तो यह है कि भक्ति भगवान् का स्वभाव है, इसी कारण भक्ति भक्तों को कृपा-साध्य प्राप्त होती है। सीमित स्वीकृतियों का त्याग होते ही पतित से पतित भी कृपा-पात्र हो जाता है। प्रेम-पात्र कृपा करने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हमको शीघ्रातिशीघ्र मानी हुई स्वीकृतियो से असंग हो जाना चाहिये।

× × ×

६-११-४५

बेचारी निर्बलता तभी तक जीवित है जब तक प्राणी उसका शासन स्वीकार करता है, क्योंकि प्राणी की रुचि के विपरीत कोई भी निर्बलता जीवित नहीं रह सकती।

यह नियम है कि जिस स्वीकृति से प्राणी अपने को अभिन्न कर लेता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता स्वतः आ जाती है, अर्थात् प्रत्येक स्वीकृति प्राणी की सत्ता से ही प्राणी पर शासन करती है।

जो साधक विचार-पूर्वक अपने को सभी स्वीकृतियों से मुक्त

कर लेता है, उस पर संयोग की दासता का रस अपना अधिकार नहीं कर पाता।

संयोग की दासता मिटते ही निर्वासना स्वतः आ जाती है, जो भगवद्भक्त का मुख्य साधन है, क्योंकि वासना-युक्त प्राणी में पवित्र प्रीति जाग्रत नहीं हो पाती। प्रीति के बिना भगवत्प्राप्ति सर्वथा असम्भव है, अतः भगवत्प्राप्ति के लिये निर्वासना परम अनिवार्य है। निर्वासना के लिये सभी स्वीकृतियों का त्याग परम आवश्यक है।

स्वीकृति एकमात्र अस्वीकृति से ही मिट सकती है। स्वीकृति मिटने पर अभ्यास अपने आप होने लगता है। साधारण प्राणी अभ्यास के द्वारा स्वीकृति मिटाने का प्रयत्न करते हैं, जो परम भूल है।

स्वीकृति मिटने पर संसार से निराशा आ जाती है। ज्यों ज्यों निराशा का भाव स्थायी होता जाता है, त्यों त्यों निस्संकल्पता बिना ही प्रयत्न आती जाती है, जो वास्तव में सभी अभ्यासों का प्राण है।

जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उनका हित अहित की दृष्टि से निर्णय कर हितकारी संकल्पों को पूरा करो, किन्तु उनकी पूर्ति के रस में अपने को आबद्ध मत होने दो, क्योंकि पूर्ति का रस नवीन संकल्प उत्पन्न कर देगा, जो दुःख का मूल है।

जितेन्द्रियता परम बल है, विकल्प-रहित भगवद्विश्वास कल्पतरु के समान है।

निज ज्ञान के अनुरूप जीवन बना लेना ही वास्तविक ईमानदारी है।

आगे पीछे का चिन्तन भगवद्-ध्यान में विघ्न है। सभी वस्तुओं का ध्यान निकल जाने पर भगवद्-ध्यान स्वतः होने लगता है, क्योंकि अपना बनाया हुआ दोष मिटा देने पर स्वाभाविक दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं, अर्थात् वस्तुओं का स्मरण, चिन्तन, ध्यान अपना बनाया हुआ दोष है। उसके मिटते ही भगवच्चिंतन बिना ही प्रयत्न अपने आप होने लगेगा, यह निर्विवाद सत्य है।

× × ×

देखो, करने का अभिमान गल जाने पर, जो करना चाहिये, स्वतः होने लगता है, और जो नहीं करना चाहिये, वह उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि करने का अभिमान किसी न किसी प्रकार द्वेष के आधार पर उत्पन्न होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राग-द्वेष युक्त कर्ता जो उसे करना चाहिए, वह नहीं कर पाता। जब कर्ता वह नहीं कर पाता, जो करना चाहिये, तब विवश होकर वह करने लगता है, जो न करना चाहिये। कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान राग-द्वेष रहित होने पर ही हो सकता है। राग द्वेष की निवृत्ति अपने बनाये हुए सम्बन्धों को विचार-पूर्वक त्याग करने से, एवं विकल्प-रहित विश्वास पूर्वक प्रेम-पात्र से नित्य सम्बन्ध करने से ही हो सकती है। अतः सद्भाव-पूर्वक सब प्रकार से प्रेम-पात्र के हो जाओ; यही परम पुरुषार्थ है और

किसी का ध्यान मत करो, यही उनका ध्यान है। प्रेम-पात्र के ध्यान का प्रयत्न प्रेम-पात्र का ध्यान नहीं होने देता। वे बड़े चित-चोर हैं, किन्तु उसी चित्त को चुराते हैं, जिसमें वासनाओं का कचरा नहीं रहता। यदि उनको जानना चाहते हो, तो और किसी को मत जानो। जिसकी जानकारी उनसे भिन्न वस्तुओं में लगी है, उस जानकारी से वे नहीं जाने जाते, आर्थात् मिली हुई शक्तियों को अविषय कर दो, बस, फिर कुछ भी करना शेष नहीं है। शरीर मन इन्द्रियादि निर्जीव यंत्रवत् हैं। उन वेचारों में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। अहंभाव का जिससे सद्भाव-पूर्वक सम्बन्ध हो जाता है, बस मन बुद्धि आदि उसी की ओर स्वतः दौड़ने लगते हैं। जो प्राणी अहंभाव में वस्तुओं को स्थापित कर लेते हैं और इन्द्रिय मन, बुद्धि आदि से आनन्द-घन प्रेम-पात्र को प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी व्यर्थ चेष्टा है। अहंभाव मे प्रेम-पात्र की स्थापना करने से मन, बुद्धि आदि सभी अविषय हो जाते हैं, अर्थात् अहंभाव के अनुरूप ही मन बुद्धि आदि की प्रवृत्ति होती है। अतः अहंभाव के पवित्र होने पर पवित्रता, भक्त होने पर भक्ति, जिज्ञासु होने पर जिज्ञासा बिना ही प्रयत्न आ जाती है, जो उन्नति का मूल है। अतः जिसमें मन, बुद्धि आदि को लगाना चाहते हो उसके अनुरूप ही अहंभाव को बना लो। यदि मन, बुद्धि आदि से अतीत होना चाहते हो, तो सीमित अहंभाव को मिटा दो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका अभेद स्वरूप

× × ×

अपने में से विचारपूर्वक गृहस्थ तथा विरक्त भाव को निकाल दो और सद्भाव पूर्वक भक्त-भाव की स्थापना करलो, क्योंकि भक्त सभी स्वीकृतियों से अतीत होता है। स्वीकृतियों से अतीत होते ही सीमित अहंभाव मिट जाता है और निर्वासना आ जाती है। निर्वासना आते ही हृदय प्रेम-पात्र की प्रीति से भर जाता है, शरीर विश्व के काम आने लगता है, प्राणी अपने में अपने प्रीतम को पाकर अचिन्त तथा अभय हो जाता है। भक्त के हृदय में संयोग की दासता तथा वियोग का भय शेष नहीं रहता। भक्त के मन में शरीर आदि किसी भी वस्तु का सङ्कल्प नहीं होता। भक्त के चित्त में प्रेम-पात्र से भिन्न अन्य किसी का चिन्तन नहीं होता, न वह अप्रसन्न रहता है। भक्त के अहंभाव में केवल प्रेम-पात्र निवास करता है। अथवा प्रेम-पात्र की प्रतीक्षा रहती है। भक्त की इन्द्रियां प्रेम-पात्र की विचित्र लीला को देख उत्तरोत्तर प्रीति को उत्पन्न करती हैं, दृश्य में आवद्ध नहीं होती हैं। भक्त की स्वीकृति में प्रेम-पात्र से भिन्न अन्य किसी की सत्ता शेष नहीं रहती। उसे तो सर्वत्र सर्वकाल में सर्वभाव से अपने प्रीतम का ही दर्शन तथा आस्वादन होता है, अर्थात् उसकी दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती। भक्त होने के लिये सभी मानव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि संसार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती; केवल अपने बनाये हुए सभी सम्बन्ध एवं स्वीकृतियों को त्याग सब प्रकार से प्रेम-पात्र का होते ही भक्त हो जाता है। भक्त होने के लिये प्रेम-पात्र की सत्ता पर विकल्प रहित विश्वास

परम अनिवार्य है, एवं उनके अनंत ऐश्वर्य तथा माधुर्य की जानकारी परम आवश्यक है। जो भक्त प्रेम-पात्र की सुधामयी पतित-पावनी सर्वसमर्थ अहैतुकी कृपा की महत्ता जान लेता है, उसे फिर किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रेम-पात्र की कृपा का वल सभी वलों से श्रेष्ठ है। कृपा का बल उन्हीं भक्तों को प्राप्त होता है, जिनके हृदय में दीनता शेष नहीं रहती और शरणापन्न होने से अभिमान गल जाता है। सीमित अभिमान गलते ही असीम निर्विकार तत्त्व से एकता स्वतः हो जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

६-३-४४

राग-द्वेष जलाकर, असार संसार की धूल उड़ाकर, एकता के रंग से प्रेम-पात्र से होली खेलिये।

× × ×

१०-१०-४३

मेरे निज स्वरूप,

एक मात्र सभी आस्तिकों का यह मत है कि सर्व-शक्तिमान् सच्चिदानन्दघन सर्वोत्कृष्ट अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य्य-सम्पन्न हैं, किन्तु फिर भी चित्त स्वाभाविक उनकी ओर नहीं जाता, यह प्रश्न ईश्वर-वादियों का प्रायः होता रहता है। मेरे सामने

यह प्रश्न अनेक भक्तों ने अनेक बार अनेक युक्तियों से रक्खा है। बात बड़ी विचित्र है, क्योंकि यह प्रश्न अपने को अपने (प्रेम-पात्र) से दूर कर रहा है। अनेक दृष्टियों से देखने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम जिस प्रकार का खेल अर्थात् विकल्प-रहित स्वीकृति स्वीकार करते हैं, हमारे प्रेम-पात्र हमारी रुचि की पूर्ति तथा उसकी वास्तविकता बताने के लिये उसी प्रकार की लीला करते हैं। खेल अर्थात् स्वीकृति खिलाड़ी अर्थात् स्वीकृति-कर्त्ता का स्वरूप नहीं होता और न लीला लीलाधारी की सत्ता होती है। देखिये शतरंज का बादशाह खेलनेवाले की दृष्टि में होता है, स्वरूप से नहीं। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का चित्त स्वाभाविक ही अपने प्रेम पात्र की ओर आकर्षित होता है, परन्तु प्राणी प्रमाद-वश समझ नहीं पाता। निम्न लिखित सन्त-वाणी को गम्भीरता पूर्वक पढ़िये। उसमें इसी प्रश्न पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है।

अभिनय (acting) अभिनय कर्त्ता (actor) का स्वरूप नहीं होता, यह सभी अभिनयकर्त्ता जानते हैं। अभिनय-कर्त्ता केवल मन में छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये और दर्शकों की एवं थियेटर कम्पनी के मालिक की प्रसन्नता के लिये ही अभिनय करता है, अथवा यों कहो कि जिस अभिनय (Acting) से अभेदता हो जाती है, उसके सजीव बनाने के लिये अभिनय (Acting) करता है। ऐसा कोई भी अभिनय कर्त्ता (Actor) नहीं देखा, जिसने अपने अभिनय (Acting) को परिवर्तन

करने की रुचि प्रगट न की हो। परिवर्तन की रुचि अभिनय-कर्त्ता को अभिनय से पृथक् करने में समर्थ है, परन्तु राग की यह महिमा है कि दोष जानते हुए भी त्याग करने की शक्ति निर्बल हो जाती है। यद्यपि किसी भी प्राणी को अपनी दृष्टि से देखे हुए दोष में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, परन्तु राग के कारण बेचारा प्राणी त्याग से हार स्वीकार करने लगता है। स्वाभाविक प्रियता निर्दोष तत्त्व से ही हो सकती है, जो प्रेम पात्र का स्वरूप है। प्रेम-पात्र को निर्दोष जानते हुए भी उनसे अभेद होने के लिये प्रेमी केवल द्वेष के कारण इन्कार करता है, क्योंकि यह द्वेष की महिमा है कि निर्दोष जानते हुए भी नहीं अपना पाते। (प्रत्येक द्वेष का जन्म किसी न किसी राग से होता है।)

बेचारे अभिनय-कर्त्ता को अभिनय से राग और अपने प्रेम-पात्र (निज स्वरूप) से द्वेष हो गया है, इसी कारण अभिनय में जीवन-बुद्धि हो गई है और अपने स्वरूप तथा प्रेम-पात्र से प्रमाद हो गया है। अभिनय का राग यद्यपि बेचारे अभिनयकर्त्ता को चैन से नहीं रहने देता, परन्तु बेचारा अभिनय कर्त्ता प्रमाद-वश अभिनय द्वारा ही बेचैनी मिटाना चाहता है, यह उसकी बुद्धि का प्रमाद है। यदि अभिनय-कर्त्ता, अभिनय (Acting) में जीवन-भाव स्वीकार न करे, प्रत्युत खेल को केवल राग-निवृत्त का साधन माने, तो खेल के अन्त में अभिनय-कर्त्ता सुगमता-पूर्वक अपने निजस्वरूप तथा प्रेम-पात्र को अपने आप

से जान लेता है। उस काल में प्रेम-पात्र भी लीला-भाव को त्याग उससे अभिन्न हो जाते हैं। हमारे प्यारे हमारे अभिनय की पूर्ति के लिये सब प्रकार से निर्दोष तथा पूर्ण होते हुए भी लीला-भाव धारण कर हमारे जैसे ही होकर हमारे सामने आते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हम अभिनय में अपने को भूल जाते हैं, वे लीला करते हुए अपने को नहीं भूलते। यह उनका माधुर्य एवं ऐश्वर्य है कि हमारी इच्छा-पूर्ति के लिये निरन्तर अनेक लीलाएँ करते हैं। प्रमाद-वश हम अपने को अथवा उनके स्वरूप को भूलकर अपने को अभिनय-कर्त्ता न जान कर और उनकी लीला न जानकर अपने अभिनय को और उनकी लीला को स्वरूप (सत्ता) मान लेते हैं। यह राग-द्वेष की महिमा है। यद्यपि राग-द्वेष भी अभिनय का एक पार्ट है और कुछ नहीं, क्योंकि त्याग और प्रेम से निवृत्त हो जाता है। लीला का आरम्भ कब से और क्यों हुआ। इसका ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ पता नहीं चलता, परन्तु हमको यही मालूम होता है कि जब से हमने अभिनय (Acting) किया तब से ही प्यारे ने लीला की। जब हम खेलना बन्द कर देते हैं, तब हमारे प्यारे हमारे होकर ही हम में निवास करते हैं। इस दृष्टि से अभिनय तथा लीला की सत्ता प्रेमी तथा प्रेम-पात्र से भिन्न शेष नहीं रहती। अतः लीला कब से हुई यह प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। अब कृपया लीलाधारी की लीला देखिये। जब हम अपने में शरीर-भाव का अभिनय स्वीकार करते हैं, तब

हमारे प्यारे विश्वरूप होकर लीला करते हैं। शरीर होकर किसी भी खिलाड़ी (प्राणी) ने विश्व से भिन्न कुछ नहीं जाना। जब हम इन्द्रिय-जन्य स्वभाव धारण करते हैं, तब हमारे प्यारे विषयों के स्वरूप में प्रतीत होते हैं। जब हम परिवर्तन को देख जिज्ञासु-भाव धारण करते हैं, तब हमारे प्यारे तत्त्वज्ञान होकर लीला करते हैं। जब हम प्रेम की आवश्यकता के कारण प्रेमी का पार्ट स्वीकार करते हैं, तब हमारे प्यारे प्रेम-पात्र होकर प्यार करते हैं। जब हम विद्यार्थी का पार्ट करते हैं, तब हमारे प्यारे विद्या होकर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हमारी इच्छा के अनुरूप हमारे प्यारे अनेक लीलाएँ करते हैं। जब हम अपने में से अभिनय भाव निकाल देते हैं, तब हमारे प्यारे भी अपने में से लीला भाव निकाल देते हैं। क्या इस दृष्टि से उनमें अनन्त ऐश्वर्य या माधुर्य सिद्ध नहीं होता? क्या स्वाभाविक ही हम उनकी ओर आकर्षित नहीं होते? हम अपने को बिना ही बदले उनको बदला हुआ देखना चाहते हैं। हमारी इस बेइमानी ने हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न कर दिया है कि यदि वे अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य संपन्न हैं, तो हमारा मन स्वाभाविक ही उनकी ओर आकर्षित क्यों नहीं होता? हम शरीर बन कर तो केवल उनको विश्वरूप में ही देख सकते हैं। जब तक हम जिज्ञासुभाव धारण नहीं करेंगे, तब तक प्यारे के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकते। हम विषयी होकर अनेक प्रकार के दूषित, घृणित, निन्दनीय खेल खेलते हैं। हमारे प्यारे

हमारी पूर्ति एवं प्रसन्नता के लिये निर्दोष होते हुए भी विकारयुक्त लीलाएँ करते हैं। हमारे प्यारे हमको निर्दोषता की ओर आकर्षित करने के लिये निरन्तर हमारे बनाये हुए खेलों को मिटाते या परिवर्तित करते रहते हैं। हम खेल में इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनकी इस अहैतुकी कृपा पर ध्यान नहीं देते। हमारी खेलने की रुचि के लिये अनेक खेल खिलाते हुए स्वतन्त्रता नहीं छीनते। भला, इतना माधुर्य और किसमें हो सकता है? हम लोभी होकर प्यारे को कंचन के स्वरूप में देखते हैं और कामी होकर कामिनी के स्वरूप में देखते हैं। अनेक युक्तियों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारे प्यारे हमारे अनुरूप ही लीला करते हैं। क्या हमको यह शोभा देता है कि हम अपने प्यारे से निन्दनीय लीलाएँ करायें? हम अपने को सीमितकर अपने प्यारे को सीमित भाव में देखने का प्रयत्न करते हैं।"

प्रत्येक दोष में अनेक दोष छिपे रहते हैं, जैसे शरीर-भाव धारण करते ही देश, जाति सम्प्रदाय आदि भाव आने लगते हैं और हमारी अहंता सीमित होती चली जाती है। ज्यों ज्यों हम सीमित होते चले जाते हैं त्यों त्यों हमारा प्रेम मोह में बदलता जाता है। हम सीमित होकर अपने प्यारे को भी सीमित देखने लगते हैं, यद्यपि वे स्वरूप से सदैव अनन्त तथा असीम ही रहते हैं। जब हम निरन्तर परिवर्तन के विधान पर ध्यान नहीं देते और अपने को सीमित करने का ही प्रयत्न करते हैं तब हमारे प्रेम-पात्र हमारे साथ विवश होकर अपने ऐश्वर्य से संहार-लीला

करते हैं। उनकी इस लीला में भी अनन्त माधुर्य छिपा है। प्राकृतिक विधान के अनुरूप शरीर विश्व की वस्तु है, एवं निरन्तर परिवर्तनशील है। अतः हमको शरीर में देश, जाति. सम्प्रदाय आदि का भाव आरोपित नहीं करना चाहिये और न परिवर्तन शील शरीर को अपना जीवन समझना चाहिये और न उसकी आवश्यकता सदा के लिये समझनी चाहिये, क्योंकि यदि शरीर सदा के लिये होता तो उसका निरन्तर परिवर्तन नहीं होता। न्याय-दृष्टि से तो शरीर केवल विश्व-सेवा के लिये मिला है। हमको शरीर होकर विश्व में माने हुए भेद-भाव को मिटाकर केवल अपने प्यारे को ही देखना चाहिये। जब हम अपने प्यारे को ही देखेंगे, तब प्यारे की कृपा से हमारा शरीर-भाव अपने आप गल जावेगा और हम अपने प्रेमपात्र का पवित्र प्रेम पा जावेंगे। यह उनकी प्रेममयी लीला है कि जो उन्हें देखता है, उसे वे अवश्य अपनालेते हैं। यदि हम मानी हुई स्वीकृतियों को त्याग, उनके होकर रहने लगें, तो वे हमारी सभी निर्बलताओं का अन्त अवश्य कर देंगे। यदि हमको अभी लीलाएँ देखने की रुचि है, तो पवित्र लीलाएँ देखनी चाहिये। हम क्यों नहीं जिज्ञासु होकर तत्त्व-ज्ञान, एवं भक्त होकर भगवान् की परम मनोहर नित्य लीला देखते? हम शरीर होकर, विषयी होकर अनित्य लीलाएँ देखना पसन्द करते हैं। हमें अपनी इस योग्यता पर लज्जा आनी चाहिये। अनित्य जीवन एवं अनित्य लीला, नित्य जीवन एवं नित्य लीला का साधनमात्र है, जिस

प्रकार बच्चों के खेलने के लये ताश का बादशाह जो, वास्तव में कागज का टुकड़ा है, बादशाह मालूम होता है। ताश का बादशाह सच्चे बादशाह की सत्ता की स्वीकृत में समर्थ है, क्योंकि कोई भी अभिनय (Acting) बिना किसी आधार के नहीं हो सकता। अनित्य-जीवन नित्य-जीवन की आवश्यकता है और कुछ नहीं। परिवर्तनशील जीवन को कभी भी जीवन मत समझो, यह तो नित्य जीवन का साधन है। यद्यपि प्रत्येक साधन साध्य से अभिन्न करने के लिये आवश्यक है, परन्तु जब प्राणी प्रमाद-वश साधन को ही साध्य मान लेता है, तब साधन में आसक्त हो जाता है और साध्य से विमुख हो जाता है। जो साधन साध्य तक पहुँचाने में समर्थ था, उसका दुरुपयोग होने से वह साध्य से दूर करने में समर्थ हो गया। अतः प्राकृतिक-विधान (Natural Law) के अनुरूप मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग करना हमारे लिये अनिवार्य्य हो जाता है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति का दासत्व मिट जाता है और प्रेमी प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है। परिस्थिति का दुरुपयोग करने पर कर्त्ता परिस्थिति की सुदृढ़ शृंखलाओं में बँध जाता है और भविष्य में वर्तमान परिस्थिति से पतित परिस्थिति के लिये विवश होता है; अतः हम को वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिये। हमको जो कुछ मिला है, वही हमारे लिये हित का साधन है, क्योंकि प्राकृतिक- विधान न्याय-पूर्ण है। हमको जो मिला है,

उसका सदुपयोग करने पर ही हमारा प्रेम-पात्र हमें अवश्य अपना लेगा।

अतः हमको प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। ऐसा करने से हम स्वाभाविक परिवर्तनशील विषयों से विमुख हो अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य-सम्पन्न सर्वसमर्थ प्रेम पात्र से अभिन्न हो कृत-कृत्य हो जायेंगे।

× × ×

कलकत्ता
२४–१–४६

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो।

सच तो यह है कि मनमें निर्मलता आ जाने पर स्थिरता आ जाती है। ज्यों ज्यों स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों छिपी हुई शक्तियों का विकास स्वयं होता जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि मन के स्थिर हो जाने पर प्राणी सभी दुःखों से छूट जाता है।

आगे पीछे का चिन्तन मत करो। चलते, फिरते, उठते, बैठते निरन्तर हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारो। अपने को उनके प्रेम का अधिकारी मानो। केवल अपनत्व का बल हो, अर्थात् मैं भगवान् की हूँ, इसी भाव के आधार पर उनके प्रेम का अधिकारी मानो। केवल अपनत्व का बल हो, अर्थात् मैं भगवान् की हूँ, इसी भाव के आधार पर उनके प्रेम की प्रतीक्षा करती रहो।

विचारशील अपने दोष तथा दूसरों के गुण देखते हैं देखो बेटी, यह जीवन भगवच्चिन्तन करने के लिये मिला है। जिस मन में संसार की वस्तुओं का चिन्तन नहीं होता, उसी मन में भगवच्चिन्तन करने की शक्ति आती है। अतः संसार की वस्तुओं का चिन्तन मत करो।

ॐ आनंद, आनंद, आनंद

आपका अभेद स्वरूप

× × ×

२२-२७-४५

सेवा का विचारात्मक रूप त्याग है, त्याग का क्रियात्मक-रूप सेवा है, अतः सेवा तथा त्याग स्वरूप से एक है। त्याग से निर्बलतायें मिट जाती हैं और सेवा से भोग-वासनायें मिट जाती हैं, क्योंकि उपभोग की आसक्ति शेष नहीं रहती। अतः हृदय की उन्नति होती है। सुख का उपभोग करनेवाले प्राणियों को सेवा का साधन सुलभ है, दुखी प्राणियों के लिये त्याग सुलभ है। त्याग के पश्चात् मूक सेवा सुलभ होने लगती है। सेवा के अन्त में सर्व-त्याग अपने आप आ जाता है। आरम्भ में साधक अपनी योग्यता की दृष्टि से साधन में प्रवृत्त होता है, अर्थात् साधक की योग्यता के अनुसार साधन में एक-देशीयता होती है, किन्तु ज्यों ज्यों साधक का अहंभाव साधन होता जाता है, त्यों त्यों साधक की एक-देशीयता स्वतः मिटती जाती है।

जिस प्रकार वर्फ नदी बनकर समुद्र में विलीन होती है, उसी प्रकार साधक साधन बन कर साध्य से अभिन्न होता है।

× × ×

बलरामपुर
२२-५-५१

ता० १४ मई का सरल ईमानदारी युक्त पत्र मिला। निस्सन्देह तुम बड़ी समझदार लड़की हो। तुमने सचमुच मन की दशा का ठीक ठीक अध्ययन किया है। देखो बेटी, प्राणी में काम स्वाभाविक विद्यमान है। इसे मनोविज्ञानी आदि-रस बताते हैं, पर है अनित्य। प्राणी को माँग नित्य रस की है, जिसकी उपलब्धि काम का अन्त होने पर ही संभव है। काम का वास्तविक स्वरूप सीमित और परिवर्तनशील सौन्दर्य है। यदि काम न रहे, तो शरीर की उत्पत्ति ही न हो, क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में मूल काम है। विवेकी जन इस काम को राम की अभिलाषा से भस्मीभूत कर देते हैं। देखो बेटी, देहाभिमान से काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जाने पर काम का अन्त होता है। देहाभिमान गलाने के लिए शरीर को संयम का मन्दिर बना लेना अनिवार्य है, पर संयम का जन्म भीतर के मन से होता है। ऊपर के मन से जो कुछ दिखाई देता है, भीतर के मन में उस से कुछ भिन्न ही निकलता है।.........

देखो बेटी, जब यह निश्चित है कि शरीर की उत्पत्ति काम से है, तो उसमें काम का होना स्वाभाविक ही है। उस काम

के अनेक रूप हैं। छोटे छोटे बालकों के प्रति जो स्नेह प्रदर्शित है, वह भी काम का एक शुद्ध रूप है, पर उसका प्रभाव एक पक्ष में ही अधिक होता है। बालक के मन में उसकी प्रतिक्रिया केवल हृदय तक रहती है, इन्द्रियों तक नहीं पहुँचती। पिता भ्राता के मन में भी हृदय की ही प्रबलता होती है, पर शरीर का पूर्ण विकास होने पर उन चेष्टाओं का प्रभाव इन्द्रियों तक न पहुँचे, इसके लिए कोई स्थायी रुकावट नहीं हो सकती। जब तक भाव का आदर है, तब तक हृदय में स्नेह का संचार होगा और इन्द्रियों में शुद्धता रहेगी, पर देहाभिमानयुक्त स्नेह·········मोह में परिणत होकर कामाग्नि को प्रज्वलित कर सकता है। हाँ, कब और कितना, यह नीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार नदी का शुद्ध जल किसी गड्ढे में आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर, वस्तु या अवस्था में आबद्ध होकर मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। स्नेह प्राणी की परम आवश्यकता है, पर उसे किसी में आबद्ध नहीं करना चाहिए। हृदय में स्नेह की गंगा लहराती रहे, पर उसके सामने कोई दीवार नहीं होनी चाहिए, जिससे वह टकरा जाय। साधक का आधार उसकी साधना और लक्ष्य है। प्राणी का लक्ष्य काम का अन्त कर राम से अभिन्न होना है। उसकी साधना भोगेच्छाओं को राम की अभिलाषा में, स्वार्थ को सेवा में, एवं असंयम को संयम में परिवर्तित कर देना है।·········

तुम्हें अपने हर एक कार्य में जाग्रत तथा सावधान रहना है। प्रीति का उपयोग सर्व समर्थ प्रभु के प्रति ही संभव है और शरीर का उपयोग दीन दुखियों की सेवा में। देखो बेटी, जब तक मन अमन न हो जावे, और इन्द्रियाँ स्वभाविक सहज स्नेह में न डूब जावें, तब तक भीतर बाहर दोनों प्रकार के संयम की आवश्यकता है, क्योंकि कभी कभी मन की शुद्धता पर बाह्य ऐश्वर्य विजय पा जाता है और कभी कभी माधुर्य अधिकार जमा लेता है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

× × ×

रानीखेत
१०-६-५१

स्वधर्मनिष्ठ प्रिय पुत्री,

तुम्हारा ४ जून का पत्र मिला।······निस्सन्देह तुम बड़ी ईमानदार लड़की हो। तुमने विवेक पूर्वक अपने मन पर पक्षपात शून्य कड़ी आलोचना की है, मोह वश उसे क्षमा नहीं किया। अपने साथ ऐसा न्याय कोई बिरले ही कर पाते हैं। तुमने होनेवाली घटना से सही अर्थ लिया है, इसमें मुझे लेशमात्र भी अविश्वास नहीं है। पर बेटी, विचार यह करना है कि तुम अपने विवेक युक्त निर्णय के पालन करने में किन किन कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर सकती हो। वर्तमान मानव-समाज के कलुषित वातावरण में रहकर, अपनी सच्चरित्रता तथा साधना

की रक्षा किन उपायों से कर सकती हो। देखो पुत्री, जब तक प्राणी का हृदय दुःख से भरा रहता है, तब तक उसकी समझ और मन में एकता और शुद्धता बनी रहती है। उस अवस्था में कोई भी वाह्य प्रतिकूलता उस पर विजय नहीं पा सकती, किन्तु ज्यों ज्यों बनावटी सुख से दुख कम होता जाता है, त्यों त्यों मन सबल और विवेक निर्बल होता जाता है। विवेक के निर्बल होते ही मन इन्द्रियों की ओर गतिशील होकर बेचारे साधक को लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है, अर्थात् धर्म पर मोह विजय पा लेता है और फिर साधक साधारण प्राणियों की भाँति बहाव में बहने लगता है। इतना ही नहीं, वह अपने से गिरे हुए प्राणियों के उदाहरणों को सामने रखकर, अभिमान कर, बनावटी सुख से सन्तुष्ट होने के गीत गाने लगता है। तुम्हें इस प्रमाद से बचना है।

ब्रह्मचर्य-युक्त जीवन के लिए केवल दो ही बातें करनी होंगी। एक तो छोटे छोटे बालक बालिकाओं अर्थात् ब्रह्मचारियों की सेवा, दूसरे मीरा की भाँति परम प्रेमास्पद के लिये गहरी व्याकुलता। जिनके मन में समाज के बालक बालिकाओं की यथेष्ठ सेवा न करने का गहरा दुःख है, अथवा जिनका मन मीन की भाँति अपने प्रिय के लिए तड़प रहा है, वे ही प्राणी काम पर विजय पा सकते हैं। जिन्हें जीवन भर ब्रह्मचारी रहना है, उन्हें इन दोनों में से किसी एक दुःख को अपना लेना होगा, अथवा इन दोनों में जीवन को विभक्त

कर देना होगा, तन से ब्रह्मचारियों की सेवा करते हुए मन में प्रभु-मिलन की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ानी होगी। ऐसा करना तभी संभव होगा, जब साधक मोहयुक्त माने हुए सभी सम्बन्धों का अन्त कर दे। जिसे कोई भी अपना साथी चाहिए, वह ईमानदारी पूर्वक ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

लाडली बेटी, काम के अनेक रूप होते हैं। कभी तो कामदेवता बड़ा ही सुन्दर धर्मयुक्त रूप बनाते हैं और प्राणियों पर अधिकार पाते ही किसी न किसी अंश में उन्हें मोहयुक्त अधिकार-लालसा में फँसा लेते हैं। प्राणी अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाते हैं। इस वैरी काम पर विजय पाने के लिए साधक को बड़ी ही सावधानी तथा विवेक पूर्वक कड़ी साधना करनी होगी, जिसका प्रथम पाठ अकेले रहना, अपने निकट अर्थ न रखना, सेवा के अतिरिक्त सारा समय सार्थक चिन्तन में व्यतीत करना है। इसके पश्चात् साधक में आन्तरिक शक्तियों का विकास होगा। वे अनेक प्रकार का प्रलोभन सामने उत्पन्न करेंगी। उनमें भी आवद्ध न होना अनिवार्य होगा। तब कहीं काम राम की अभिलाषा बनकर राम से अभिन्न होगा, अर्थात् साधक अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जावेगा।

प्यारी बेटी, अब तुम मन के सामने उपरोक्त कर्तव्य रख दो और उससे पूछो कि क्या चाहते हो। यदि मन तुम्हारे निश्चित

पाठ को पढ़ने लगे, तो तुम सच्ची साध्वी बन कर अपने को कुटुम्ब को, तथा समाज को सुशोभित कर सकती हो। अब तुम्हें परिवर्तनशील जीवन का प्रत्येक क्षण तन और मन के सदुपयोग में लगाना होगा, अर्थात् श्रमी जीवन बनाना होगा। आलस्य और प्रमाद का नितान्त अन्त करना होगा। विरोधी विचारधारा के प्राणियों से असंग रहना होगा। सेवा करने के लिए सभी वालक-बालिकाएँ अपनी होंगी और अपने लिए सर्व समर्थ प्रभु को ही अपना बनाना होगा। प्रत्येक कार्य के अन्त में व्याकुलता पूर्वक प्रभु को पुकारना होगा तथा अपने को उनके शरणापन्न कर अचिन्त रहना होगा।.........

तुम्हारा

....

रानी खेत

× × ×

११-६-५१

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय,

तुम्हारा ३ जून का लिखा हुआ पत्र कल मिला। निस्सन्देह तुम बड़े हृदयशील प्राणी हो। पर भैया, विश्वास करने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं—सर्व समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा और अपना कर्त्तव्य। और, जानने योग्य दो ही वस्तुएं हैं—प्राप्त योग्यता का सदुपयोग और अपना लक्ष्य। इन चारों के अनुरूप जीवन वना लो।

एक बार गुरुदेव से सुना था कि जो सच्चाई पूर्वक प्रभु के शरणागत हो जाते हैं उनको आवश्यक वस्तुयें बिना माँगे ही मिल जाती हैं, और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलतीं। अतः वर्तमान का आदर करते हुए, जिनके होकर रहते हो, उन्हीं के नाते प्रत्येक कार्य करते रहो और कार्य के अन्त में हृदय से व्याकुलतापूर्वक उन्हीं को पुकारो। यही आस्तिक प्राणी का जीवन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

तुम्हारा

× × ×

ऋषिकेश

१५-५-५२

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय,

तुम्हारा पत्र मिला। प्रत्येक प्राणी अपनी समझ से ठीक ही लिखता है, अतः तुमने जो लिखा है, ठीक ही है। पर भैया, विधि का विधान न्यायपूर्ण है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही उन्नति होती है।

पश्चात्ताप करनेवाला पापी अभिमानी योगी से आगे निकल जाता है, क्योंकि प्रभु को दीन प्यारे हैं। अतः आस्तिक प्राणी के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है।

रोग वास्तव में प्राकृतिक तप है। अन्तर केवल इतना है कि तपस्वी स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों को सहन करता है और

रोगी अनिच्छापूर्वक। स्वेच्छा पूर्वक कठिनाइयों को सहन करने के कारण तप दुखद नहीं मालूम होता और बिना इच्छा के कारण रोग दुखद मालूम होता है। यदि रोग द्वारा प्राप्त दुख को सहर्ष सहन कर लिया जावे तो रोग भी तप के समान हो जाता है। रोग से अशुभ कर्म के फल का अन्त होता है और तप से अशुभ कर्म का अन्त होता है। जिस प्रकार तपस्वी को तप के अन्त में शान्ति मिलती है, उसी प्रकार रोगी को रोग के अन्त में भी मिलती है।

निरन्तर हृदय से व्याकुलता पूर्वक प्रभु को पुकारते रहो। मन से उन्हीं से बात चीत करो। जब तक तुम्हें उनका पवित्र प्रेम न प्राप्त हो, तब तक उन्हीं से प्रार्थना करते रहो। विश्वास करने योग्य केवल उनकी कृपा है और कुछ नहीं। अपनी सारी इच्छाएं उन्हीं के समर्पण कर दो, तभी प्रसन्नता मिलेगी।

मेरा जीवन तो उस खिलाड़ी का फुटबाल बन गया है। कब कहाँ रहना होगा, वे ही जानें। शरीर का मिलन वास्तव में मिलन नहीं है। लक्ष्य तथा स्नेह की एकता ही सच्चा मिलन है। जो प्राणी सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं, वे मेरे हैं और मैं सर्वदा उनके निकट हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है। पुनः तुमको बहुत २ प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

तुम्हारा

संत-वाणी

१—परिवर्तनशील जगत् की प्रत्येक वस्तु निरन्तर काल-रूप अग्नि में जल रही है, अतः वर्तमान में ही योग्यतानुसार प्रयत्न कर प्रेम-पात्र से अभेद होने का प्रयत्न करना चाहिये।

२—अपने दुःख का कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं समझना चाहिये।

३—अपनी निर्बलता को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

४—प्रेमपात्र के नाते सभी सम्बन्धियों के साथ निष्कपट तथा पवित्रता-पूर्वक माने हुए भाव के अनुरूप सभी आवश्यक व्यवहार करने चाहिये।

५—अपनी ओर से किये हुए व्यवहार के बदले में अपने अनुकूल व्यवहार की आशा नहीं करनी चाहिये।

६—आवश्यकता से अधिक थोड़े समय भी बेकार चेष्टायें नहीं करनी चाहिये, क्योंकि व्यर्थ चेष्टाओं के निरोध से जितेन्द्रियता स्वाभाविक प्राप्त होती है।

७—संसार से सच्ची निराशा परम-बल है।

८—अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।

९—स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करना परम तप है।

१०—किसी की बराबरी करने की भावना मन में उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिये।

११—उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त करदो, जो किसी की पूर्ति तथा हित का साधन नहीं है।

१२—उन सभी संकल्पों का अन्त कर दो, जिन को जनसमाज के सामने निर्भयता पूर्वक प्रकाशित नहीं कर सकते।

१३—अन्न वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं को शारीरिक हित के भाव से ग्रहण करो।

१४—आवश्यकता के अतिरिक्त केवल विलासिता के भाव से जन-समाज से मत मिलो।

१५—जब तक जितेन्द्रियता स्वाभाविक न हो जावे तब तक किसी भी व्यक्ति (स्त्री पुरुष) से एकान्त में अधिक बात चीत मत करो।

१६—अपने आप आनेवाले सुख दुःख का शासन अपने पर मत होने दो।

१७—बड़ी से बड़ी कठिनाई आने पर भी हार स्वीकार मत करो।

१८—सत्य की खोज के लिये सर्वस्व समर्पण कर दो।

१९—प्रत्येक कार्य आरम्भ करने के पूर्व हित अहित की दृष्टि से उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लो।

२०—वाणी का संयम करने के लिये एक भी व्यर्थ बात मत करो, अर्थात् स्वाभाविक मौन रहने का स्वभाव बनाओ।

२१—हृदय में मोह की अग्नि मत जलने दो।

२२—मृतक प्राणी का चिन्तन मत करो।

२३—बच्चों की यथा-शक्ति सेवा करते हुए उनके सुख दुःख से हर्ष अथवा विषाद मत होने दो।

२४—नूतन बालकवत् स्वभाव बनाने का प्रयत्न करो।

२५—प्रत्येक कार्य अभिनय के रूप में करने का प्रयत्न करो।

२६—निर्बलताओं के मिटाने के लिये व्याकुलता-पूर्वक प्रेम-पात्र से प्रार्थना करो।

२७—यथा शक्ति बुराई का उत्तर अच्छाई से देने का स्वभाव बनाओ।

२८—दूसरों की की हुई बुराई का प्रभाव अपने पर मत होने दो।

२९—भूत-काल की सभी घटनाओं को स्वप्नवत् समझ कर भूल जाओ।

३०—वर्तमान परिस्थिति को संभालने का प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान के संभालने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य, दोनों अपने आप संभल जाते हैं।

३१—अपने को शरीर कभी मत समझो।

३२—सर्वेन्द्रियों का ब्रह्मचर्य्य पालन कर शरीर को शुद्ध करलो ?

३३—प्रेम-पात्र के विरह तथा तत्त्व-विचार से हृदय शुद्ध कर लो।

३४—गुणों का उपभोग मत करो, क्योंकि उपभोग करने से विकास रुक जाता है।

३५—अपनी अच्छाई तथा दूसरों की बुराई भूल जाओ।

३६—दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।

३७—दोषों का चिन्तन दोषों से भी अधिक दोष है।

३८—भलाई का चिन्तन भलाई से भी अधिक भलाई है, क्योंकि चिन्तन से दृढ़ता आ जाती है।

३९—की हुई बुराई को पुनः न करना ही सब से बड़ा प्रायश्चित्त है, क्योंकि दोष के न करने से गुण अपने आप उत्पन्न हो जाता है। अतः भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त करने का स्वभाव बनाओ।

४०—अपनी भूल स्वीकार करने से कभी इनकार मत करो, क्योंकि भूल स्वीकार करते ही सच्चा पश्चात्ताप उत्पन्न होता है, जो सभी बुराइयों को खा जाता है।

४१—ऐसा कोई कार्य मत करो जिससे अपनी दृष्टि में आदर के योग्य न रहो।

४२—विषय-चिन्तन मिटाने के लिये भगवत्-चिन्तन का स्वभाव बनाओ।

४३—माने हुए सम्बन्धों का अन्त करने के लिये सद्भाव पूर्वक प्रेम-पात्र से सम्बन्ध करलो। (प्रेम-पात्र वही है, जिसका वियोग नहीं होता।)

४४—स्वीकृति मात्र को सत्ता मत समझो।

४५—सत्ता के यथार्थ ज्ञान के लिये स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा दो, क्योंकि स्वीकृति किसी अभ्यास से नहीं मिट सकती।

४६—धर्मानुसार की हुई स्वीकृति के विधान के विपरीत कोई भी कर्म मत करो, क्योंकि अहन्ता के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति से निर्भयता आ जाती है।

४७—निर्वासना प्राप्त करने के लिये अपने में से सभी स्वीकृतियों को निकाल दो, क्योंकि सभी वासनाओं का जन्म स्वीकृति से ही होता है।

४८—निर्वासना के बिना सत्य का अनुभव नहीं होता, अतः निर्वासना प्राप्त करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा दो।

४९—निर्वासना किसी अन्य के द्वारा नहीं प्राप्त होती, अतः उसे प्राप्त करने के लिये अपने पर ही पूरा भरोसा करो। ऐसा कोई गुण कहीं है, जो निर्वासना से न आ जावे?

५०—स्वार्थ-भाव मिटाने के लिये सेवा करने का स्वभाव बनाओ, क्योंकि सेवा करने से स्वार्थ-भाव मिट जाता है।

५१—उस सुख का त्याग करदो, जो किसी का दुःख हो।

५२—उस दुःख को प्रसन्नता पूर्वक अपनाओ जिससे किसी का हित हो।

५३—अपनी प्रसन्नता के लिये किसी प्रकार का संगठन मत बनाओ, क्योंकि संगठन से उत्पन्न होनेवाली प्रसन्नता अपने आप मिट जाती है।

५४—संगठन के हित के लिये सेवा-भाव से उसमें सीमित काल के लिये मिल जाओ, किन्तु उसके द्वारा प्रसन्नता मत खरीदो।

× × ×

संत-वाणी

(१) अशुद्ध संकल्पों को त्याग—शुद्ध संकल्पों का स्वाभाविक उत्पन्न होना—अर्थात् सहज स्वभाव से ही मन में सर्वहितकारी सद्भावनाओं का निवास करना।

(२) सहज भाव से उत्पन्न हुई सद्भावनाओं का स्थायी हो जाना-अर्थात् विकल्प-रहित होकर शुद्ध संकल्पों का दृढ़ हो जाना।

(३) शुद्ध संकल्पों का अभिमान गल जाने पर निस्संकल्पता का आजाना, जिसके आते ही प्रेमी को प्रेमास्पद, तथा साधक को सिद्धि, एवं जिज्ञासु को तत्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है। उस निस्संकल्पता को प्राप्त करने के लिये अपने में से सभी सम्बन्धों का तथा सब प्रकार के चिन्तन का विचार-पूर्वक त्याग करना परम अनिवार्य है।

यह भली प्रकार समझ लीजिये कि प्राणी भलाई करने से भला नहीं होता, प्रत्युत भले होने पर भलाई, भक्त होने पर भक्ति, सेवक होने पर सेवा, अभिमान शून्य होने पर निर्वासना स्वतः आ जाती हैं, क्योंकि अहंता-परिवर्तन से प्रवृत्ति-परिवर्तन और अहंता के अभाव से वास्तविक निवृत्ति अपने आप प्राप्त

होती है। निर्वासना आध्यात्मिक उन्नति का प्राण है। शुद्ध संकल्प गुणों के विकास का साधन है। दृढ़ संकल्प निर्बलता भगाने का महामंत्र है। अतः उपरोक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं में ही मन को विचरना चाहिये।

× × ×

ता० २७-११-४६

हरद्वार गंगातट

संत-वाणी

निवृत्ति-मार्ग के अनुसरण करनेवाले साधकों को शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पों की भी पूर्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि संकल्पों की पूर्ति के लिये किसी न किसी प्रकार के संग्रह की आवश्यकता होती है, जो वास्तव में अनर्थ का मूल है। इतना ही नहीं कि संकल्प-पूर्ति का रस साधक को साध्य से अभिन्न नहीं होने देता, प्रत्युत ज्यों ज्यों संकल्पों की पूर्ति होती जाती है, त्यो त्यों नवीन संकल्पों की उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति का रस देहाभिमान गलने नहीं देता, उसके बिना काम क्रोध आदि विकारों का अन्त नहीं हो पाता। उन विकारों के रहते हुए सर्व-समर्थ आनन्दघन राम से अभिन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निवृत्ति-मार्ग-साधक को संकल्पों का त्याग ही परम अनिवार्य है।

संकल्पों का त्याग करते ही सब प्रकार का संग्रह स्वतः मिटने लगता है। ज्यों-ज्यों संग्रह मिटता जाता है, त्यों त्यों वस्तुओं की दासता, उनकी सत्यता तथा प्रियता भी मिटती जाती है, जिससे देहाभिमान अपने आप गलने लगता है। देहाभिमान गलते ही सभी दोष मिट जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता प्राप्त होती है। इसी कारण किसी संत ने कहा है कि (नारायण तो मिले उसीको जो देहका अभिमान तजे)।

इस अभागे देहाभिमान ने हमको हमारे परमप्रिय प्रेमास्पद से विमुख कर हमारी जो दुर्दशा की है, वह किसी कथन द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। केवल संकेतमात्र में यह कह सकते हैं कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाते, परन्तु फिर भी दूसरों की दृष्टि मे आदर के योग्य बने रहने की प्रबल इच्छा करते हैं। हमारी इस बेइमानी को धिक्कार है।

हे पतित-पावन सर्व-समर्थ भगवान, आप अपनी ओर देख अपने इस पतित प्राणी को अपनाइये, जिससे मेरा उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द

× × ×

संत-वाणी

प्रत्येक प्राणी किसी न किसी पर विश्वास करता है एवं किसी न किसी का होकर ही रहता है। अन्तर केवल इतना ही

है कि साधारण प्राणी शरीर आदि परिवर्तनशील वस्तुओं पर विश्वास करता है और विचारशील प्राणी सर्व वस्तुओं से अतीत, सर्वसमर्थ, निर्विकार, प्रेम-पात्र पर। साधारण प्राणी संसार तथा मोह द्वारा स्वीकार किये हुए सम्बन्धियों का तथा विचार-शील केवल सर्व-समर्थप्रेम-पात्र का होकर रहता है। विचार-दृष्टि से विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है, जिससे वियोग न हो, क्योंकि सतत परिवर्तनशील वस्तुओं पर विश्वास करने से दीनता, अभिमान, भय, चिन्ता आदि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, जो पतन के मूल हैं।

जिससे वियोग नहीं होता, उसपर विश्वास करने से संयोग की दासता तथा वियोग का भय मिट जाता है और परतन्त्रता, दीनता एवं अभिमान शेष नहीं रहते, प्रत्युत स्वतन्त्रता, निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। जिससे वियोग नहीं होता, उससे देशकाल की दूरी कदापि नहीं हो सकती, अर्थात् केवल न जानने की दूरी हो सकती है। 'न जानने' की दूरी तीव्र जिज्ञासा होने पर अपने आप मिट जाती है, क्योंकि ज्यों ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों त्यों निज ज्ञान का आदर करने की शक्ति स्वतः आती जाती है। ज्यों-ज्यों निज-ज्ञान का आदर स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोष अपने आप मिटते जाते हैं। ज्योंज्यों दोष मिटते जाते हैं, त्यो-त्यों निर्दोषता से अभिन्नता होती जाती है। अतः निर्दोषता प्राप्त करने के लिये

अपने बनाये हुए दोषों का अन्त कर देना ही सुगम साधन है।

यह भली प्रकार समझ लो कि ऐसा कोई दोष नहीं होता, जिसका जन्म निज-ज्ञान का निरादर करने से न हो, अर्थात् सभी दोष तब उत्पन्न होते हैं, जब प्राणी, जो जानता है, वह नहीं मानता, अथवा जो कर सकता है, वह नहीं करता। प्राकृतिक विधान के अनुसार केवल वही करना है, जो प्राणी कर सकता है, अर्थात् प्राप्त जानकारी तथा शक्ति का सदुपयोग ही उन्नति का मूल है। यद्यपि तत्त्व-जिज्ञासा प्रत्येक मानव में विद्यमान है, क्योंकि सब कुछ जानने की रुचि स्वाभाविक है, तथापि स्वाभाविक जिज्ञासा को भोग-वासना ढक लेती है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान में सद्भाव तथा भोगासक्ति से वासनाओं का पोषण होता है, किन्तु निज-ज्ञान का आदर करने पर बुद्धि-जन्य ज्ञान जाग्रत होता है। ज्यों ज्यों बुद्धि-जन्य ज्ञान सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव गलता जाता है। जिस प्रकार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव राग उत्पन्न करता है, उसी प्रकार बुद्धि जन्य ज्ञान का सद्भाव वैराग्य उत्पन्न करता है। जिस काल में वैराग्यरूपी सूर्य रागरूपी अन्धकार को खा लेता है, बस उसी काल में तत्त्व-साक्षात्कार स्वतः हो जाता है। अतः प्रत्येक जिज्ञासु बुद्धि जन्य ज्ञान का आदर करने पर स्वतंत्रता-पूर्वक तत्त्व-निष्ठ हो जाता है।

प्रत्येक मानव में जानने की शक्ति तथा करने की शक्ति एवं भाव-शक्ति विद्यमान है। हाँ, यह अवश्य है कि योग्यता-भेद

के कारण किसी में जानने की शक्ति की प्रबलता और भाव-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति की न्यूनता होती है। इसी प्रकार किसी में भावशक्ति अथवा क्रियाशक्ति की प्रबलता और अन्य दोनों शक्तियों की न्यूनता होती है। जिन साधकों में जानकारी की प्रबलता होती है, वे जिज्ञासु, और जिन में भावशक्ति की प्रबला होती है, वे भक्त, एवं जिन में क्रियाशक्ति की प्रबलता होती है, वे कर्मवीर सुगमता पूर्वक हो सकते हैं। प्रत्येक साधक के आरम्भ-काल में भेद और अन्त में एकता होती है, क्योंकि सत्य में कल्पना-भेद होने पर भी सत्ता-भेद नहीं होता।

इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति विचार, प्रीति, तथा सेवा से ही मिट सकती है, यह निर्विवाद सत्य है। निज-ज्ञान का आदर करने पर जिज्ञासु में सर्वसमर्थ लीलामय प्रेम-पात्र का विचार के स्वरूप में प्राकट्य होता है, जो अविचार को खाकर, तत्त्व से अभिन्न कर जिज्ञासु को कृतकृत्य कर देता है। भक्त में सर्वसमर्थ ज्ञानघन, प्रेम-पात्र का प्राकट्य 'प्रीति' के स्वरूप में होता है, जो राग-द्वेष को मिटा कर, अनन्त रस एवं अनन्त प्रेम का आस्वादन प्रदान कर कृतकृत्य कर देता है। कर्मवीर में लीलामय विज्ञानघन, सर्वशक्तिमान् प्रेम-पात्र का प्राकट्य सेवा' के स्वरूप में होता है, जो स्वार्थभाव को खाकर, प्राणी-मात्र से अभिन्नता प्रदान कर कृतकृत्य कर देता है।

जानकारी के अनुरूप जीवन होने पर विचार के प्राकट्य की पात्रता प्राप्त होती है। मोह द्वारा माने हुए सभी संबन्धों

का विच्छेद होने पर, सर्व-समर्थ प्रेमपात्र से अपनत्व स्वतः हो जाता है। अपनत्व होते ही प्रीति की गंगा लहराने लगती है। धर्म-प्रियता स्थायी होने पर सेवा करने की शक्ति आ जाती है। प्राणीमात्र को अपने समान समझने पर धर्म-प्रियता स्थायी हो जाती है।

अविचाररूप भूमि में रागरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसमें भोगासक्तिरूपी फल लगता है। उसका आस्वादन करते ही प्राणी सुख-दुःख में आबद्ध हो परतन्त्र हो जाता है। बस इसी काल में इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में सद्भाव प्रतीत होता है। अतः इसका अन्त करने के लिये अविचाररूप भूमि को विचार द्वारा मिटा देना परम अनिवार्य है। अविचार कब से हुआ और क्यों हुआ, इसका कुछ पता नहीं, क्योंकि अविचार-रहित दशा का बोध आरम्भ में किसी साधक को नहीं होता, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि निज-जानकारी का निरादर करने पर अविचार की दृढ़ता अवश्य होती है। साधारण प्राणी जानकारी का विशेष प्रयत्न करते हैं और विचारशील जानकारी के अनुरूप जीवन बनाते हैं। अपने लिये सभी प्राणी वही जानते हैं, जो जानना चाहिये, क्योंकि यथार्थ ज्ञान सर्वदा सर्व-काल में स्वयं विद्यमान है, अर्थात् ज्ञान किसी व्यक्ति की वस्तु नहीं और न किसी व्यापार का परिणाम है, क्योंकि ऐसा कोई अभ्यास नहीं होता जिसका जन्म ज्ञान के बिना हो, अर्थात् सभी अभ्यासों के मूल में ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से न

जानने का दोष किसी भी जिज्ञासु में नहीं है, प्रत्युत जानकारी के निरादर का दोष है, जो स्वयं जिज्ञासु का बनाया हुआ है। अपने बनाये हुए दोष के मिटाने में साधक सर्वथा स्वतन्त्र है।

प्रत्येक दोषी को उसी दोष का अनुभव होता है, जिसका कारण वह स्वयं है, क्योंकि जिस निर्दोष तत्त्व से दोष का अनुभव होता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि दोष की आसक्ति निर्दोषता का प्रमाद उत्पन्न करती है। ज्यों ज्यों जानकारी का आदर स्थायी होता जाता है, त्यों त्यों प्रमाद स्वयं मिटता जाता है। यह भली प्रकार समझलो कि ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत प्रमाद की निवृत्ति होती है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अनिवार्य है। जिससे उत्पत्ति तथा विनाश जाना जाता है, वह उत्पत्ति विनाश-युक्त कदापि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ज्ञान नित्य है। साधारण प्राणी केवल प्रमाद वश, ज्ञान होगा, ऐसा अनुमान करने लगते हैं। अज्ञान काल में भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान की कमी को अज्ञान कहते हैं। ज्ञान की कमी की वेदना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यो जिज्ञासा स्थायी तथा सबल होती जाती है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार मिट जाता है, उसी प्रकार पूर्ण जिज्ञासा होते ही, तत्त्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है; क्योंकि जिज्ञासा-रूप अग्नि प्रमाद को भस्मीभूत कर देती है। यह नियम है कि काष्ठ का अन्त होते ही अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रमाद

का अन्त होते ही जिज्ञासा तत्व-ज्ञान से अभिन्न हो जाती है।

भिन्न को अभिन्न तथा अभिन्न को भिन्न स्वीकार करने पर, अथवा वियोग में संयोग स्वीकार करने पर, अथवा केवल स्वीकृतियों को सत्तारूप से स्वीकार करने पर, जिस मोह, प्रमाद एवं आसक्ति की उत्पत्ति होती है, वही अज्ञान है। इसके अतिरिक्त अज्ञान की कोई अलग सत्ता नहीं है। इस कारण संयोग में वियोग का अनुभव करने से अज्ञान स्वतः मिट जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि संयोग में तो वियोग का अनुभव किया जाता है और वियोग में संयोग केवल स्वीकार किया जाता है। विकल्परहित स्वीकृति भी सत्ता के समान प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में स्वीकृति सत्ता नहीं होती। यह नियम है कि जिसको सत्ता से मिला दिया जाता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता का भास होने लगता है। बस इसी कारण स्वीकृतियों से स्थायी मोह हो जाता है; किन्तु संयोग में वियोग का अनुभव करने से निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अन्त होने पर स्वीकृतियों का अभाव हो जाता है। स्वीकृतियों का अभाव होते ही, स्वयं-प्रकाश सत्ता शेष रहती है। बस उसी काल में अभिन्न से अभिन्नता एवं भिन्न से भिन्नता स्वतः हो जाती है।

संयोग, भेदभावयुक्त अथवा अभेदभाव-युक्त होता है। दोनों प्रकार का संयोग अहंभाव को सीमित कर, वासनाओं के जाल में आबद्ध करता है, जो दुःख का मूल है, क्योंकि प्राणी

की वास्तविक माँग तो अनन्त तथा असीम होने की है, जिसे वासनायें ढक लेती है। गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से विदित होता है कि प्रत्येक मानव प्रथम अपने को (अहं को) तत्पश्चात् अपने विषय में विकल्परहित स्वीकृति को, प्रकाशित करता है। जिस प्रकार मैं भारतीय हूँ, मैं यूरोपियन हूं अथवा मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि का हूँ, बस इसीसे अहंभाव सीमित हो जाता है, और अहंभाव के सीमित होते ही राग-द्वेष उत्पन्न होने लगते हैं, जो ह्रास का मूल है। यदि स्वीकृति प्राकृतिक विधान के अनुरूप हो, केवल मन गढ़न्त अर्थात् प्रमाद-युक्त न हो, तो साधनरूप अवश्य है, किन्तु जब साधक साधन को ही साध्य मान लेता है, तब साधन भी विघ्न बन जाता है। अतः छिपे हुए राग को जिसे विचार-पूर्वक नहीं मिटा सकते, उसे प्रवृत्ति द्वारा मिटाने के लिये साधन रूप से, यह आवश्यक है कि मानव प्राकृतिक विधान के अनुसार सीमित काल के लिए अपने को धार्मिक स्वीकृतियों में आवद्ध कर लेवे, परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि ऐसा करने मे निज जानकारी का निरादर न होने पावे, क्योंकि निज-जानकारी प्राकृतिक विधान की कसौटी है, परन्तु जब मानव उस साधन रूप स्वीकृति में जीवन-बुद्धि कर लेता है, अर्थात् उसे स्थायी मान लेता है, तब स्वीकृति साधन के स्थान पर विघ्न-रूप हो जाती है। वास्तव में तो केवल नित्य जीवन में ही जीवन-बुद्धि होनी चाहिये। स्वीकृतियां तो सभी परिवर्तनशील होती हैं, जिस

प्रकार आज जो गृहस्थ है, वही एक दिन संन्यासी है। अतएव परिवर्तनशील स्वीकृतियों में जीवन-बुद्धि होना घोर प्रमाद है।

जिस प्रकार दिन की पूर्णता होने पर रात्रि स्वयं आ जाती है, उसी प्रकार जानकारी से उत्पन्न स्वीकृति के अनुसार जीवन होने पर उससे उत्कृष्ट स्वीकृति, अथवा स्वीकृतियों से अतीत होने की योग्यता स्वतः आ जाती है।

सभी स्वीकृतियाँ मूल रूप से केवल तीन भागों में विभाजित हैं—विषयी, भक्त तथा जिज्ञासु। विषयीभाव की स्वीकृति विशेष देहाभिमान तथा इन्द्रियजन्य स्वभाव की आसक्ति से उत्पन्न होती है। इस कारण विषयासक्त प्राणी में अनेक प्रकार की स्वीकृतियाँ अवस्था-भेद से उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु यदि साधक उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर प्रगति करने लगता है, तो उसी विषयीभाव में से भक्त-भाव तथा जिज्ञासुभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। ज्यों ज्यों क्रियाजन्य आसक्ति मिटती जाती है, त्यों त्यों स्वार्थभाव गलता जाता है। ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों राग त्याग में और द्वेष प्रेम में परिवर्तित होता जाता है। ज्यों ज्यों त्याग तथा प्रेम की दृढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों विषयीभावकी स्वीकृति भक्त-भाव में विलीन होती जाती है।

हृदय प्रधान साधक प्रीति द्वारा प्रीतम का अनुभव करता है और मस्तिष्क-प्रधान साधक जानकारी का आदर कर दोषों को त्याग, अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करता है। अन्तर केवल इतना है कि हृदय-प्रधान साधक प्रीति होने के पश्चात्

जानता है और मस्तिष्क-प्रधान साधक जानने के पश्चात् प्रीति प्राप्त करता है।

भक्त तथा तत्वज्ञ यद्यपि एक ही परम-तत्व से अभिन्न होते हैं, किन्तु रसास्वादन में भिन्नता रहती है। तत्त्वज्ञ, अखण्ड नित्य, एक रस में एक ही भाव से स्थित होता है और भक्त भाव का भेद होने के कारण अनेक प्रकार से उसी अनन्त नित्य रसको प्राप्त करता है, अर्थात् भक्त का रसास्वादन उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, किसी एक अवस्था में आवद्ध नहीं रहता, किन्तु अनित्यता तथा जड़ता का दोष भक्त के रस में भी नहीं होता, क्योंकि प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में जातीय एकता और रसास्वादनकी दृष्टि से केवल भाव की भिन्नता होती है। वह भी केवल प्रेमी की दृष्टि से, न कि प्रेम-पात्र की दृष्टि से। कभी कभी प्रेमी प्रेम-पात्र बनकर और प्रेम-पात्र प्रेमी बनकर अनेक प्रकार की लीलाओं का आस्वादन करते हैं। यद्यपि प्रेमी किसी भी काल में प्रेम-पात्र होने की रुचि नहीं रखता, किन्तु प्रेम-पात्र अपने अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्ययुक्त स्वभाव के कारण प्रेमी का प्रेमी बनकर प्रेमी को अपने से भी महान् बना देता है और स्वयं प्रेमी का ऋणी हो जाता है। यह उनकी सर्वसमर्थ, पतित-पावनी सुधामयी अहैतुकी कृपा है।

वास्तव में महान् वही है, जो अपने शरणागत को अपने से भी महान् बनाने में समर्थ हो, न कि अपने से दीन। इस दृष्टि से महत्ता केवल सर्वसमर्थ प्रेम-पात्र में ही सिद्ध होती है।

अतः महत्ता की अभिलाषा की पूर्ति के लिये प्राणी को व्यक्ति तथा वस्तुओं की दासता से असंग हो, सर्वसमर्थ प्रेम-पात्र के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है, जो प्रत्येक साधक स्वतंत्रता पूर्वक हो सकता है, क्योंकि शरणापन्न होना एक भाव है, कर्म नहीं। कर्म के लिये अपने से भिन्न साधनों की आवश्यकता होती है। इस कारण प्राणी परतन्त्रता में आबद्ध होता है, परन्तु भाव के धारण या परिवर्तन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि स्वतः महान् होने की है, परन्तु दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो जाने के कारण महान् होने की रुचि वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की इच्छाओं में परिवर्तित हो जाती है। अतः महत्ता की अभिलाषा को स्थायी तथा सबल बनाने के लिये दीनता तथा अभिमान से मुक्त होना परम अनिवार्य है। गहराई से देखिये, ऐसी कोई परिस्थिति नहीं होती, जिससे उच्च तथा निम्न अन्य परिस्थिति न हो, अर्थात् प्रत्येक वस्तु तथा परिस्थिति में आबद्ध प्राणी अपने से उच्च तथा निम्न का स्वतः अनुभव करता है। इसी कारण उच्च को देख दीनता में और निम्न को देख अभिमान में आबद्ध हो जाता है।

दीनता का बन्धन त्याग से, और अभिमान का बन्धन सेवा से मिट जाता है, अर्थात् ऐसी कोई निर्बलता नहीं जो त्याग से, और ऐसा कोई अभिमान नहीं, जो सेवा से मिट न जाता हो।

यह भली प्रकार समझ लो कि त्याग दीनता को मिटा कर अभिमान उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत अभिन्नता प्रदान करता है। सेवा अभिमान को मिटाकर दीन नहीं बनाती, प्रत्युत पवित्र प्रीति उत्पन्न करती है।

यह नियम है कि जो दीन होता है, वही अभिमानी होता है। जो अपने से निर्बल को भय-भीत नहीं करता, उसे अपने से सबल का भय कभी नहीं होता, क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुसार व्यक्ति जो देता है, वही पाता है। दीनता तथा अभिमान के मिटते ही अभिन्नता एवं प्रीति स्वतः आ जाती है। अभिन्नता से सब प्रक्कार का भय मिट जाता है और प्रीति से आनन्द का प्रादुर्भाव होता है, जो प्रत्येक प्राणी की वास्तविक माँग है और यही सच्ची महत्ता है। अतः आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति के लिये, प्रत्येक साधक को केवल सर्व समर्थ प्रेम पात्र का होकर रहना चाहिये और उनकी अहैतुकी कृपा पर विकल्परहित विश्वास करना चाहिये। इसी पर जीव की सफलता एवं सार्थकता निर्भर है।

ॐ आनन्द आनन्द आनन्द।

अलख आश्रम, नाथद्वारा।

२६–६–४६

× × ×

संत वाणी

जिस प्रकार अन्न-जल प्राण का भोजन है, उसी प्रकार सत्संग समझ का भोजन है। सत्संग के बिना कोई भी मानव नहीं हो सकता, कारण कि विवेक-युक्त प्राण जिसमें है, वही मानव है। विवेक-रहित प्राण तो पशु, पक्षी तथा वृक्षों में भी है। मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण वस्तु तो विवेक ही है। उसी के विकास के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। उस सत्संग को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं। १—सद्ग्रन्थ। २—सत्पुरुष। ३—सर्वान्तर्यामी रूप से जो सत्स्वरूप परमात्मा प्राप्त है, उसके संग द्वारा। उसका संग असत् के त्याग से प्राप्त हो सकता है। जिसे यह तीसरे प्रकार का सत्संग प्राप्त है, उसे सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् ऐसा पुरुष स्वतः अपने में ही सत्पुरुष का दर्शन कर लेता है, कारण कि तत्वरूप से तो सत् सर्वत्र विद्यमान है। असत् की इच्छाओं ने उसे ढक लिया है। सत् की तीव्र लालसा जब असत् की इच्छाओं को खा लेती है, तब स्वतः सत् से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करते ही स्वतः सत्संग हो जाता है। इस सत्संग के लिए किसी उत्सव तथा संगठन की आवश्यकता नहीं है। एकान्त में मौन होकर इस सत्संग को प्राप्त किया जा सकता है।

जो सर्वान्तर्यामी सत् का संग प्राप्त नहीं कर पाता उसे

सत्पुरुषों के द्वारा साधन का निर्माण कर सत्संग प्राप्त करना चाहिए। जिसे सत्पुरुषों की भी प्राप्ति संभव नहीं है, उसे सद्ग्रन्थों में से अपनी योग्यतानुसार साधन का निर्माण करना चाहिए।

साधन-युक्त जीवन ही मानव जीवन है, अतः मानव को मानव होने के लिए प्रत्येक कार्य साधन-बुद्धि से करना अनिवार्य है। जो अपनी निर्बलताओं को देख, उनके मिटाने में प्रयत्नशील है, वही मानव है। अपने कर्तव्यों से दूसरों के अधिकारों को सुरक्षित रखना ही धर्म है, क्योंकि अपने अपने अधिकार सभी को स्वाभाविक प्रिय हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपने लिए धार्मिक जीवन की आवश्यकता है, अतः धर्म मानवमात्र को स्वाभाविक प्रिय है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राणी मोह-वश जो अपने लिए प्रिय है, उसे दूसरों के प्रति नहीं करता; यह उसकी असावधानी है और कुछ नहीं। जब सभी अपने लिए धर्मात्मा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब सभी को धर्मात्मा होना चाहिए। तभी सबकी पूर्ति हो सकती है।

जीवन-पथ

(एक प्रवचन से)

ऐसा कोई मानव नहीं, जो कुछ भी न जानता हो, अर्थात् प्रत्येक मानव कुछ न कुछ जानता है। ऐसा भी कोई मानव नहीं है, जो कुछ भी मानता न हो, वह कुछ न कुछ मानता है। अतः मानने और जानने का जो समूह है, उस समूह का नाम ही मानव है। अब विचार यह करना है कि वह जो जानता है, उसका आदर करता है या अनादर और जो मानता है, उसपर विश्वास करता है या अविश्वास। यदि हम जाने हुए का अनादर करते है, तो हमारा जानना व्यर्थ है। यदि हम माने हुए का अविश्वास करते हैं, तो हमारा मानना निरर्थक है। मानना वही सार्थक होता है, जिसमें घोर विश्वास हो और जानना वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो।

जानने के तीन साधन हैं--(१) इन्द्रियो के द्वारा, (२) समझ के द्वारा और (३) अपने द्वारा—अपने आपके द्वारा। इन्द्रियों के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं और बुद्धि के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं और इन्द्रियाँ तथा बुद्धि—इन दोनों से रहित होकर जो जाना जाता है, उसे भी 'ज्ञान' कहते है। इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ

ज्ञान का अभाव नहीं, ज्ञान की न्यूनता है। जैसे कोई कहे 'अँधेरा है' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश नहीं है, बल्कि प्रकाश की कमी है। तो प्रकाश की कमी का नाम अन्धकार है। वैसे ही ज्ञान की कमी का नाम अज्ञान है। इन्द्रियों के ज्ञान को जो लोग सत्य मान लेते हैं, या पूरा ज्ञान मान लेते हैं, उनमें राग की उत्पत्ति होती है। राग का मूल कारण है इन्द्रियो के ज्ञान को पूरा ज्ञान मान लेना। उस राग का फल हुआ देहाभिमान की दृढ़ता और उसका फल हुआ भोग की प्रवृत्ति और उसका फल हुआ पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता का अनुभव होना। ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारों से बचा हो—पराधीनता से, जड़ता से और शक्तिहीनता से। आप कहेंगे कैसे? बड़ी तीव्र भूख लगी हो और रुचिकर भोजन सामने हो। पहला ग्रास जितना सुन्दर मालूम होता है, अन्तिम ग्रास उतना सुन्दर नहीं मालूम होता। अतः यह मालूम होता है कि पहले ही ग्रास मे पराधीनता का अनुभव होता है। मनुष्य सोचने लगता है कि रसगुल्ला बड़ा अच्छा है। रसगुल्ले का मूल्य बढ़ गया, अपना घट गया। प्रसन्नता रसगुल्ले के आधार पर बढ़ गयी। यह भोग की पराधीनता है। दूसरा है कि खाते खाते अब नहीं खा सकते, यह शक्तिहीनता है। बहुत खा लिया अब सो जाओ, यह जड़ता हो गयी, चेतना नहीं रही। जिसको ज्ञान का प्रकाश कहते हैं, वह भोग के अन्त में नहीं रहता। आरम्भ में पराधीनता होती है, फिर शक्तिहीनता और फिर

जड़ता—तीनों चीजें भोग में आ जाती हैं। उसके पश्चात् प्राणी भोग से रहित हो जाता है। खाते खाते थक गये, अब नहीं खा सकते, चलते चलते थक गये, अब नहीं चल सकते। देखते देखते थक गये, अब नहीं देख सकते, सुनते सुनते थक गये, अब नहीं सुन सकते। हमें अपनी वस्तु तो बहुत प्यारी है, लाओ लोहे की अलमारी में या बैंक में रख दें। वस्तु प्रिय है, लेकिन हे वस्तु! तुम्हारे बिना हम सोना चाहते हैं। हमारा मित्र बड़ा प्रिय है और हमसे मिलने आया है, लेकिन माफ़ कीजिये, हम सोना चाहते हैं। इस तरह से पति से पत्नी, पत्नी से पति, बालक से माँ और माँ से बालक, मित्र से मित्र—सब ऊब जाते हैं। कोई व्यक्ति, कोई देश, कोई काल ऐसा नहीं है कि जिससे आदमी ऊबकर अलग होकर विश्राम नहीं चाहता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मनुष्य विश्राम चाहता है, न करना चाहता है, नहीं करने की सोचता है। यह किसका ज्ञान है? यह बुद्धि का ज्ञान है। बुद्धि से मालूम हुआ कि जो मित्र हमें बड़ा प्रिय था, गहरी नींद लगने पर उससे भी हम क्षमा चाहने लगते हैं, परंतु उसके साथ सम्बन्ध जोड़कर सोते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जागने पर वही संकल्प पुनः उठता है कि यही हमारा मित्र है। इस तरह से नित नया प्रेम उत्पन्न होता है। तो अगर हम बुद्धिजन्य ज्ञान का आदर करें तो प्रत्येक नये क्षण में नये जीवन का अनुभव हो सकता है। लेकिन ऐसा होता नहीं। इसलिये कि इन्द्रियों के ज्ञान की आसक्ति है।

आज क्या दशा है ? हमारे जीवन में जो घटनाएँ होती हैं, वे अनुकूल हों या प्रतिकूल हों, लेकिन उनकी स्मृति जब हमारे हृदय में अङ्कित होती है, तो उससे व्यर्थ चिन्तन होता है। वह इसलिये कि उन घटनाओं के साथ जो इन्द्रियजन्य ज्ञान था, उसमें हम सद्भाव कर लेते हैं। 'इन्होंने हमको गाली दी, हमारा अनादर किया, हमारी बात नहीं मानी— इन सब बातों से जो खिचाव होता है और मन में जो सब बातें अङ्कित रहती हैं, वे बुद्धिजन्य ज्ञानपर इन्द्रियजन्य ज्ञान का आदर कराती हैं। मैं एकबार एक मुंसिफ के यहाँ ठहरा हुआ था। उनके यहाँ एक वकील साहब भी आते थे और बहुत-सी बातें करते थे। बातें करते करते उनके मुँह से निकला कि हमारा लड़का इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में बी० ए० में पढ़ता है। हमने कहा— 'वकील साहब, इतने आदमियों के सामने इतना झूठ मत बोलिये।' उन्होंने कहा—'नहीं नहीं, स्वामीजी, मैं सत्य कहता हूँ।' मैंने कहा कि 'अभी तो तुम कहते थे कि शरीर के परमाणु सात वर्ष मे बदल जाते हैं। लड़का पैदा हुए बीस वर्ष तो हुए ही होंगे। वह बीस वर्ष का होगा। तो जिस बाप से पैदा हुआ था, वह तीन बार मर चुका और अब भी तुम उसे अपना लड़का कहते हो ?' तो यह बुद्धिजन्य ज्ञान है। इन्द्रियजन्य ज्ञान यह है कि शरीर के सारे परमाणु बदल गये, लेकिन वह फिर भी उसे अपना लड़का कहता है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान की दृढ़ता है, सद्भाव है। जब बुद्धिजन्य ज्ञान होगा तो यह सद्भाव

मिट जायगा और प्रतिक्षण नित्य नये जीवन का अनुभव होगा । हर चीज वर्तमान की मालूम होगी, लेकिन उसमें स्थिरता नहीं मालूम होगी, परिवर्तन- शीलता मालूम होगी । इसे बुद्धिजन्य ज्ञान या समझ का ज्ञान कहते हैं । इसी से वैराग्य की उत्पत्ति होती है । वैराग्य सीखा नहीं जा सकता, वैराग्य सिखाया नहीं जा सकता, बाजार मे भी नहीं मिलता । वैराग्य की उत्पत्ति बुद्धिजन्य ज्ञान से होती है। उस समय प्रवृत्ति निवृत्ति में बदल जाती है, भोग योग में बदल जाता है, मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं और विषय हो जाते हैं इन्द्रियों में लय। यह दशा केवल बुद्धिजन्य ज्ञान से आती है। इस दशा के आ जाने पर जब बुद्धि सम हो जाती है, तो बुद्धि के लिये कोई काम नहीं रहता, क्योंकि मन में जब कोई संकल्प ही नहीं रहा, मन निर्विकल्प हो गया तो बुद्धि के लिये भी कोई काम नहीं रहा, इन्द्रियों के लिये भी काम नहीं रहा, मन के लिये भी कोई काम नहीं रहा, तो दृश्य जो दिखाई देता था वह, जिन साधनों से दिखाई देता था, वे साधन और जो देखता था वह—ये तीनों (त्रिपुटी) गायब हो गये। तीनों समाप्त हो गये। इस समाप्ति में रमण करते करते स्वतः विचार का उदय होता है और उस विचार के उदय से तत्वज्ञान होता है। उस तत्त्वज्ञान के होनेपर 'यह', 'वह', 'मैं' इन चीजों की समाप्ति हो जाती है। बल्कि, यों कहो कि 'यह' और 'मैं' मिटकर 'वह' रह जाता है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

चूँकि पहला प्रश्न ज्ञान का था, अतः मैंने निवेदन किया कि ज्ञान के तीन स्थल हैं। इन्द्रियों का ज्ञान, बुद्धि का ज्ञान और बुद्धि से परे का ज्ञान। बुद्धि से परे के ज्ञान में सृष्टि नहीं है। त्रिपुटी उसमें नहीं है। त्रिपुटी वहाँ है, जहाँ इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान है। जहाँ बुद्धि का ज्ञान है वहाँ आस्था है, चिन्तन नहीं है, और जहाँ इन्द्रियों का ज्ञान है, वहाँ भोग है, योग नहीं है।

अब विचार करना है कि ज्ञान तो एक चीज है, लेकिन उसका अनुभव करने के तीन स्थल हुए। एक इन्द्रियाँ, दूसरा समझ और तीसरा स्वयं। तो समझ का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है, परंतु स्वयं का ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान है। ऐसे ही ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है; परंतु समझ का ज्ञान उसकी अपेक्षा ज्ञान है। जैसे कोई कहे कि सौ रुपये वाला हजार रुपयेवाले के मुकाबले में निर्धन है और जिसके पास हजार रुपया है वह लाख रुपयेवाले के सामने निर्धन है। तो निर्धन वह है, जिसे दूसरे का धन अधिक दिखाई देता है और अपना धन कम दिखाई देता है। इन इन्द्रियों और बुद्धि के ज्ञान से परे भी 'स्वयं का ज्ञान है। ये तीनों ही ज्ञान एक ज्ञान से प्रकाशित हैं, जैसे कि एक सूर्य से ही आंख देखती है, बिजली बनती है, बल्ब जलता है, लेकिन मूल प्रकाश सूर्य का है, उसी के तेजस्तत्त्व से सब प्रकाशित हैं। उसी तरह से जो नित्य अनन्त आनन्द ज्ञान है, उसी से बुद्धि और इन्द्रियाँ प्रकाशित हैं।

यह मैंने आपके सामने ज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ी-सी चर्चा की। अब रही बात यह कि हम कैसे ज्ञान का आदर करते हैं? वस्तुस्थिति क्या है? प्रत्येक भाई बहिन को अपने सामने अपनी दशा को देखना चाहिये कि हम किस ज्ञान पर विश्वास करते हैं। हम इन्द्रियजन्य ज्ञान पर विश्वास करते हैं, या बुद्धिजन्य ज्ञान पर विश्वास करते हैं या बुद्धि से परे के ज्ञान पर विश्वास करते हैं? हम किसको आदर देते हैं? यह स्वयं को देखना चाहिये। तो जो लोग इन्द्रियजन्य ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे राग से रहित नहीं रह पाते और संसार को सत्य कहते हैं। बुद्धिजन्य ज्ञानवाले वैराग्य या योग लेते हैं और संसार को अनित्य कहते हैं और जो बुद्धिजन्य ज्ञान से परे के ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे संसार को मिथ्या दृष्टि से देखते हैं। इस तरह से तीन दृष्टियाँ हुईं—सत्यदृष्टि, अनित्य-दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सत्य दृष्टि में या संसार को नित्य मानने वालों में कर्तापन और भोक्तापन विद्यमान रहता है, अनित्य दृष्टि वालों में अकर्तापन रहता है और मिथ्यादृष्टि वालों में असङ्गपन होता है। इस तरह से सब कुछ ज्ञान के आधार पर ही होता है। 'इन्द्रियों' के ज्ञान से भोग उत्पन्न होता है, 'बुद्धि' के ज्ञान से योग हुआ और 'स्वयं' के ज्ञान से तत्त्वज्ञान हुआ और स्वयं ज्ञान वाला 'तत्त्ववेत्ता' हुआ। इस तरह से ज्ञान ही सारे साधनों का मूल आधार हो सकता है।

परंतु ज्ञान की अपेक्षा, जैसा मैंने कहा, मनुष्य कुछ मानता

भी है, मनुष्य में कुछ और भी है। जो कुछ मैं जानता हूँ, उसके अनुसार कुछ मानता भी हूँ। अतः ज्ञान की साधना के बाद दूसरी बात है—मान्यता की। जब कोई मानता है कि 'मैं हूँ और मेरे प्रभु हैं' उसी मान्यता का उसके जीवन में आदर होना चाहिये। अगर कोई उससे यह कहे कि 'यह हाथ तेरे हैं ?' तो वह कहेगा कि 'हाथ हमारे नहीं हैं, लेकिन भगवान् हमारे हैं। भगवान् हमारे बिलकुल साथ हैं, इस में भगवान् भूल कर सकते हैं, मैं नहीं कर सकता। इसकी मुझे चिन्ता नहीं है कि भगवान् नहीं मिलेंगे। अगर कोई यह कहे कि तुम ऐसा करोगे तो भगवान् तुम्हें नरक में भेज देंगे, तो वह कहेगा—,, मैं अनन्त काल तक नरक में रह सकता हूँ, लेकिन 'भगवान् मेरे हैं–', यह भाव नहीं बदल सकता।" ऐसी जिसकी मान्यता है, ऐसा जिसका विश्वास है, ऐसी जिसकी दृढ़ता है, वही भक्ति और विश्वास का साधन कर सकता है। उसको ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, लेकिन यह दृढ़ विश्वास हो कि 'भगवान् मेरे अपने हैं, और मैं भगवान् का हूँ।'

उसके लिये अनेक नाते हो सकते हैं। भगवान् मालिक हो सकते हैं, भगवान् मित्र हो सकते हैं, भगवान् पुत्र हो सकते हैं, पति हो सकते हैं। हर-एक नाते भगवान् से लगाये जा सकते हैं। भगवान्, शिष्य बन सकते हैं, गुरु बन सकते हैं, लड़का बन सकते हैं, पिता बन सकते हैं, पति बन सकते हैं, मित्र बन सकते हैं, स्वामी बन सकते हैं। सब कुछ बन सकते हैं, इसमें

भगवान् के लिये आपत्ति नहीं है। ऐसा क्यों होता है? यह नियम है कि जो अनन्त होता है, उसमें इन्फिरियरिटी कम्प्लेक्स नहीं होता। वह किसी सम्बन्ध से नहीं घबराता। वह चेला बनने से नहीं घबराता, लड़का बनने से नहीं घबराता, साला बनने से नहीं घबराता; क्योंकि अनन्त होने से भगवान् में इन्फिरियरिटी कम्प्लेक्स नहीं होता। बहनोई बनना तो सब चाहते हैं, लेकिन भगवान् साले भी बन सकते हैं, सखा भी बन सकते हैं और पुत्र भी बन सकते हैं। अर्जुन के साले बने थे और सखा भी। पति भी बन सकते हैं–मीरा के पति बने। पुत्र भी बन सकते हैं–कौसल्या और यशोदा के पुत्र बने। स्त्री भी बन सकते हैं, विश्वमोहनीरूप में। तो कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् को किसी भी सम्बन्ध से कोई एतराज नहीं है, आपत्ति नहीं है। वह प्रत्येक सम्बन्ध को स्वीकार कर सकते हैं; लेकिन यह साधना बुद्धि से नहीं चलती, यह हृदय से चलती है। जिनको बुद्धि लगानी हो, उनके लिये यह साधना नहीं है। उनको तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है और ज्ञान प्राप्त कर के बुद्धि से ऊपर उठ जाना है। लेकिन विश्वासकी साधना करने के लिये इसके अलावा कोई और साधना नहीं कि 'भगवान् मेरे अपने हैं और जो कुछ भी चीज उनकी है, उससे मेरा नाता है।' वह अपने को भगवान् का कोई अलंकार बनाना भी पसंद कर सकता है, जैसे हम उनके नूपुर हैं, वंशी हैं; हम उनके पीताम्बर हैं। उनके कोई भी

अलंकार हो सकते हैं, क्योंकि भगवान् की प्रत्येक वस्तु दिव्य और चिन्मय है। जिस धातु के भगवान् हैं, उसी धातु के भगवान् के अलंकार हैं। भगवान् के परिकर भी उसी धातु के हैं। उनकी गैया-मैया भी उसी धातु की हैं, ग्वाल-बाल, व्रज, गो लोक, साकेत और अवध भी उसी धातु के हैं और वे भी दिव्य तथा चिन्मय हैं। यह साधना किस की है? जिसे विश्वास हो। जिसको विश्वास नहीं है, उसे यह साधना नहीं करनी चाहिये। तो जो लोग मानते हैं और विना माने हुए रह ही नहीं सकते और माने हुए को निकाल नहीं सकते, उनके लिये यह विश्वास-मार्ग की साधना है। इसका मूल मन्त्र है केवल यह जानना कि 'भगवान् मेरे अपने हैं और मै भवान् का हूँ, मैं और किसी का नहीं हूँ।'

यह तो हुई भक्ति 'और भगवान् मेरे हैं' यह हुआ प्रम। प्रेम में अपने के साथ अपनापन होता है और भक्ति मे अपने को भगवान् को दिया जाता है। प्रेम भगवान् को ले लेता है और भक्त अपने को दे देता है। चंद्रावली जी कहती हैं कि 'मैं श्रीकृष्ण की हूँ' और किशोरी जी— राधा जी कहती हैं कि 'श्रीकृष्ण मेरे हैं।' जिस धातु के श्रीकृष्ण हैं, उसी धातु की चन्द्रावली हैं, उसी धातु की श्रीराधा हैं। भक्त का स्वरूप भगवान् का स्वरूप है। भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, वही एकमात्र दिव्य चिन्मय तत्त्व रहता है।

सृष्टि केवल विषयी प्राणियों के लिये है। विषयी प्राणी

जिज्ञासु और भक्त नहीं हो सकता। वह तप कर सकता है, पुण्य कर सकता है। अनीश्वर वादी दान भी कर सकता है, पर वह प्रेम नहीं कर सकता, संसार से विमुख नहीं हो सकता।

अब हमें और आप को देखना यह है कि हम कौन वादी हैं—भौतिक वादी हैं, ईश्वर वादी हैं अथवा अध्यात्म वादी हैं। यदि भौतिक वादी हैं तो सारे विश्व को कुटुम्ब मानकर ऐसा काम करें जिससे सारे संसार का हित हो। इस भौतिकवाद से भी उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो जायगी। अगर ईश्वरवादी हैं, तो यदि सरल विश्वास पूर्वक ऐसी भावना है कि 'भगवान् हमारे हैं, हमारी उनकी जाति एक है और हम पर उनका पूरा अधिकार है और उनपर हमारा पूरा अधिकार है, संसार पर हमारा अधिकार नहीं और संसार का हम पर अधिकार नहीं, तो यह ईश्वर-वादी साधना है। परंतु जो विचारक हैं, जिज्ञासु हैं, वे इस प्रकार सोचते हैं कि 'यह जो दिखायी देता है, यह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है और उसमें जो परिवर्तन का अनुभव होता है, वह बुद्धिजन्य ज्ञान है, और इस इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धिजन्य ज्ञान से अतीत का जो ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञान है।' इस प्रकार तीन दृष्टियाँ हुई—भौतिक दृष्टि, आस्तिक दृष्टि और आध्यामिक दृष्टि। भौतिक दृष्टि से सर्वहितकारी कर्मों को करना है, आस्तिक दृष्टि से अपने को दे डालना है और आत्मसमर्पण करना है, एवं अध्यात्मिक दृष्टि से असंगता, विमुखता और निष्कामता आती है। फिर चाहे आप अपने को समर्पण कर के आस्तिक दृष्टि को अपनायें,

सर्व हितकारी प्रवृत्ति के द्वारा भौतिक दृष्टि को अपनाएँ, उसमें भी मनुष्यत्व का विकास होता है। आस्तिक दृष्टि से शरणा-गत-भाव का विकास होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से असंगता, विमुखता और निष्कामता आयेगी और उससे भी विकास होगा। अब आदमी को सोचना है कि बुद्धि के स्थल से साधना करनी है या हृदय के स्थल से करनी है अथवा शरीर के स्थल से। शरीर के स्थल से सर्वहितकारी प्रीति की प्राप्ति होगी, हृदय के स्थल से सरल विश्वास की प्राप्ति होगी और बुद्धि के स्थल से असंगत बनना होगा।

मनुष्य के पास तीन चीजें हैं—शरीर है, हृदय या मन है और तीसरी बुद्धि है। अगर आप कहें कि तीनों से साधना करना चाहते हैं, तो शरीर से श्रमयुक्त और संयम-युक्त हो जाओ, हृदय से प्रेमयुक्त हो जाओ और बुद्धि से मोहरहित हो जाओ; तो संयमयुक्त शरीर से शक्ति प्राप्त होगी, विवेकयुक्त बुद्धि से मुक्ति की प्राप्ति होगी और प्रेमयुक्त हृदय से भक्ति मिल जायगी, इस प्रकार शक्ति, भक्ति और मुक्ति तीनो आपको मिल सकती हैं। ये तभी मिल सकती है जब आप में सब से बड़ी बात ईमानदारी हो।

अगर आप भगवान् को मानते हैं, तो उस मान्यता का परिचय हमारे आपके जीवन से हो, केवल विचारों से नहीं। हमारा जीवन बता दे कि हम भगवान् को मानते है। अगर हम भगवान् को मानते हैं, तो जितनी घटनाएँ हमारे मन के विरुद्ध

हो, उनमें हमें हर्षित होना चाहिये। क्यों हर्षित होना चाहिये? क्योंकि भगवान् के मानने वाले के जीवन में किसी और के अस्तित्व का शेष नहीं रहता। सर्वदा वह यही देखता है कि जो कुछ होता है, भगवान् की सत्ता से होता है, भगवान् के द्वारा होता है। तो उसके मन के विरुद्ध भी यदि कोई बात होती है, उसमें उसे रस आता है और वह सोचता है कि आज मेरे प्यारे के मन की बात हुई। आप जिसके मन की बात कर देंगे, तो वह आपके अधीन हो जायगा। तो जब अपने मन की बात नहीं हुई, तो वह दूसरे के मन की बात हुई, यानी भगवान् के मन की बात हुई; क्योंकि भक्त की दृष्टि मे भगवान् के सिवा और किसी की सत्ता नहीं रहती। वह सोचता है कि आज हमारे मन की बात नहीं हुई है तो इसका अर्थ है कि वह भगवान् के मन की हुई। भगवान् के मन की बात हुई, इसके अर्थ होंगे कि भगवान् मुझे अपनाना चाहते है, प्रेम करना चाहते हैं, मेरे होकर रहना चाहते हैं; क्योंकि जो अपने मन की बात करता है, वह उसका होकर रह जाता है। पति उस स्त्री का होकर रहता है, जो सर्वदा पति के मन की बात करती है और जो पति स्त्री के मन की बात करता है, तो स्त्री उसकी गुलाम बन जाती है। माता पुत्र के मन की बात करती है, तो वह उसका गुलाम बन जाता है और पुत्र माता के मन की बात करता है, तो माता उसकी गुलाम बन जाती है। अतः दुनिया का नियम है कि जो आप के मन की

बात कर देगा, उसके गुलाम हुए बिना आप रह नहीं सकते। तो जब हम भगवान् के मन की बात कर देंगे, तो उन्हें हमारा होकर ही रहना पड़ेगा। तो जितने आस्तिक होते हैं, वे प्रत्येक प्रतिकूलता में अपने परम प्रेमास्पद की अनुकूलता का अनुभव करते हैं कि अब हमारे प्यारे ने अपने मन की बात करना आरम्भ कर दिया। अब वे हमें जरूर अपनायेंगे। जब तक हमारी कामनाओं की पूर्ति होती रहती है, तब तक हमे समझना चाहिये कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं, जैसे माँ अच्छी वस्तुएँ और इच्छानुसार खिलौने देकर, थोड़ी-सी मिठाई देकर बालक को गोद से दूर करने का उपाय करती है और अपनी गोद से वञ्चित रखती है, इसलिये यदि हमारे मन की बात होती है, तो समझना चाहिये कि भगवान् हमे दूर रखना चाहते हैं और हमारे मन की बात नहीं हुई, तो भगवान् हमे अपनाना चाहते हैं। अगर हमें कोई अच्छी वस्तु मिल जाती है, तो समझना चाहिये कि भगवान् माता की तरह बहलाना चाहते है, परन्तु अगर हमारा धन नाश होता है, तो समझना चाहिये कि भगवान् हमे निर्लोभ बनाकर रखना चाहते हैं। जहाँ प्रतिकूलताओं मे पूर्ण अनुकूलताओं का अनुभव हो, एक रस की उत्पत्ति हो, तो समझना चाहिये कि आज से हमारा नाता भगवान् के साथ पक्का हो गया। अगर भगवान् का नाम लिया, नौकरी मिल गयी, तो समझो भगवान् का नाता टूट गया और नाम लेने की मजदूरी मिल गयी। फिर तो बस

खाये जाओ रसगुल्ला और छुए जाओ पैर, होगा और कुछ नहीं। और अगर कहीं गुरु बन जाओ तो भगवान् ने कहा कि मेरे प्रेम से वञ्चित रहो, चेले-चेली में रमण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिकूलता में यदि आप अनुकूलता का अनुभव कर सकते हैं, तो भक्त हो सकते हैं। और जो कुछ हो रहा है, उसे मायामात्र जानकर अत्यन्त अभाव का अनुभव कर सकते हैं, तो आप अध्यात्म-जीवन में प्रवेश करते हैं, और यदि अपने सुख को उदारतापूर्वक बाँट सकते हैं, तो भौतिक-जीवन में सफल हो सकते हैं। इस प्रकार तीन बातें हैं। संसार में यदि सफल होना है, तो सुख को उदारतापूर्वक बाँट दो, तो संसार की कोई शक्ति नहीं है कि तुमको ऊँचा स्थान न दे। अगर तुम चाहते हो कि भगवान् हमको अपनायें, तो उनके मन की बात में राजी रहो, अपना मन उनको दे दो। अगर चाहते हो कि आध्यात्मिक-जीवन में प्रवेश हो, तो समझो कि जो कुछ दिखायी देता है, वह सब प्रपञ्च है, मायामात्र है, असत् है, उसका अत्यन्त अभाव है। वह न पहले कभी था, न अब है, न आगे कभी होगा, ऐसा विचार करो। यों तीन बातें हुईं—प्रतिकूलताओं का आदर, सुख का वितरण और संसार को मायामात्र समझ करके उसका अत्यन्त अभाव स्वीकार करना। यह तीन प्रकार की दृष्टि है। इन तीनों में जो दृष्टि आप को अनुकूल मालूम होती हो, उसी के अनुसार आप साधना करें। संसार में रहें, तो उन्नतिशील बन

कर रहें। भोगी हों, तो ठीक, ठीक और तत्त्ववेत्ता हों, तो ठीक, ठीक। भगवान् इससे नाराज नहीं होते कि तुम संसार में क्यों रहते हो, भौतिकवादी क्यो बनते हो। भगवान् अनीश्वरवादियों के भी प्रतिकूल नहीं हैं। अगर भगवान् उनके प्रतिकूल होते, तो हवा उन को साँस लेने से रोकती, जल उनकी प्यास नहीं बुझाता, अग्नि उन को जला देती; क्योंकि भगवान् उन सब में व्याप्त हैं। अतःभगवान् को तो उन्नति प्रिय है। भौतिकवादी भी यदि उन्नति करेगा, तो भौतिकता के रूप मे वे उसे मिलेंगे। अगर आप हृदय की उन्नति करेंगे, तो वे प्रेम के रूप में आप को मिलेंगे। अगर आप अपना विवेक ऊँचा उठायेंगे तो ज्ञान के रूप मे मिलेंगे। तो भगवान् संसार में भौतिकरूपमें, प्रेम के रूप में और तत्त्वज्ञान के रूप मे मिल सकते हैं और ये सारी चीजे मिलकर एक होती हैं और वह भगवान् का नाम होता है। भगवान् का कोई एक ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार अलग हो, तत्त्वज्ञान अलग हो, भक्ति अलग हो और भगवान् अलग हो। सब मिलकर जो चीज है, उसी का नाम भगवान् है।

अब आप को सोचना है; क्योंकि व्यक्ति एकदेशीय होता है, भगवान् सर्वदेशीय होता है, कि आप संसार में उन्नतिशील बनकर रहना चाहते है, तो वह संसार के रूप मे भेट करेंगे, वास्तविक स्वरूप में नहीं मिलेंगे। भगवान् को अवनति अप्रिय है। उन्नति की ओर चलो, चाहे भौतिक उन्नति हो, चाहे आस्तिकवाद की उन्नति हो या आध्यात्मिकवाद की उन्नति हो।

अगर आप भौतिक उन्नति करते हैं, तो उसमें संयम, सदाचार, सेवा, त्याग और श्रम होना चाहिये, और आस्तिकवाद की उन्नति दृढ़ता, सरल विश्वास और शरणागति से होती है। और अध्यात्मवाद की उन्नति विचार, त्याग और निज ज्ञान के आदर से होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं अपने आप निर्णय करना है कि हम भौतिक उन्नति की ओर जाना चाहते हैं या आस्तिक होना चाहते हैं, अथवा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। यदि थोड़ा-थोड़ा तीनों में अधिकार रखना चाहते हो तो शरीरको भौतिक बना दो, हृदयको आस्तिक बना दो और बुद्धिको आध्यात्मिक बना दो। शरीर के भौतिक बन जानेसे वह श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्यागसे युक्त हो जायगा और हृदयमें आस्तिकवाद अपनानेसे राग द्वेष मिटकर प्रेमकी गङ्गा बहेगी और जिसकी बुद्धि विवेकयुक्त है, वह तत्त्व-निष्ठ हो सकता है और मुक्ति पा सकता है। अध्यात्म-जीवन नित्य-जीवन प्रदान करता है। आस्तिकवाद त्याग और प्रेम की वृद्धि करता है तथा संयम, सदाचार, सेवाद्वारा भौतिकवादी के सुख की वृद्धि होती है। अब आप चाहे भौतिक सुखों को लीजिये, चाहे भक्ति प्राप्त कीजिये और चाहे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कीजिये। आप इन तीनों चीजों के प्राप्त करने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं। आस्तिकवाद, तथा अध्यात्मवाद में पराधीनता का नाम नहीं है। वे किसी परिस्थितिपर निर्भर नहीं हैं। भौतिकवाद परिस्थिति

पर निर्भर है। जैसी परिस्थिति होगी, इसी के अनुसार भौतिक-वादी अपना साधन करता है। आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद के लिये त्याग की आवश्यकता है, उसका मूल्य चुकाना होगा। सरल विश्वास के ऊपर, बिना किसी शर्त के अगर आप अपने को भगवान् को दे सकते हैं, प्रतिकूलताओं में उनकी कृपा का अनुभव कर सकते हैं, तो आप आस्तिक हो जाइये। अगर आप दृश्यमात्र से असङ्ग हो सकते हैं, तो अध्यात्मवादी हो जाइये और यदि अपना सुख बाँट सकते हैं, तो भौतिकवादी हो जाइये। जिसमें आपकी मरजी हो, उसी में प्रविष्ट हो जाइये।

कहने का तात्पर्य यह है कि जितने प्रश्न मेरे सामने आये थे, उनमें जहाँ तक मैंने समझा थोड़ी थोड़ी हर एक प्रश्न पर बातें कह दीं और कुछ अपने मन की बात भी कह दी। जैसा मैंने कहा था कि जो मन की अनुकूलता में रमण करता है, वह भगवान् के प्रेम से वञ्चित हो जाता है, इसमें कम से कम मुझे सन्देह नहीं है। अनुकूलता ने मुझे भगवान् से विमुख किया है और किसी ने नहीं। तो जो अनुकूलता का स्वप्न देखते हैं और उसके पीछे दौड़ते चले जा रहे हैं, वे भगवान् से विमुख रहते हैं, जैसा कि मैं रहा हूँ। जो प्रतिकूलता को हृदय से लगा सकते हैं, वे भगवान् के सम्मुख होते हैं, यह भी मेरे हृदय की बात है। अगर आप उन को पाना चाहते हैं, तो अनुकूलता को निकाल कर प्रतिकूलता को हृदय से लगाना होगा; क्योंकि जिसे वे अपने से अलग करना चाहते हैं, उसे अनुकूलताएँ दे देते हैं और

अपने से वञ्चित कर देते हैं, उनके पास तो कल्पवृक्ष है, वे सब कुछ दे सकते हैं।

अगर आप को उनके बिना अनुकूलता प्रिय है, तो वह उसी प्रकार की है कि एक सुन्दर कमरा सजा है और आप दोस्त के बिना हैं। एक सुन्दर स्त्री शृङ्गार करे और पति से वञ्चित रहे या शरीर आत्मारहित हो। आस्तिकवाद का न होना जीवन में अकेले पड़े रहने के समान है। केवल भौतिकवाद क्या है? शृङ्गारयुक्त स्त्री जो पतिवञ्चिता हो या सजा हुआ कमरा मित्र के बिना हो। मानव-जीवन में भौतिकता का स्थान ऐसा है, जैसे सुन्दर मकान सजाना, सुन्दर शरीर सजाना, सुन्दर सड़क बनाना लेकिन रहनेवाला अकेला हो। और आस्तिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसा है, जैसे मकान भी सुन्दर हो, रहनेवाला भी सुन्दर हो तथा नित्यजीवन भी हो, साथी भी हो और साथी बड़ा प्रेमी हो तथा जीवन भी अनन्त हो। अतः आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद के साथ साथ भौतिक जीवन को बनाना होगा। यदि आप चाहते हैं कि चाहे हमारा दोस्त न रहे, पर मकान रहे—यह भौतिकवाद है और यदि मकान के साथ साथ दोस्त भी मौजूद हो, तो यह आस्तिक जीवन है और अध्यात्मजीवन नित्य-जीवन है। मकान सुन्दर बने—यह हर एक परिस्थिति को सुन्दर बनाने की बात है। जो परिस्थिति के पीछे पड़े हैं और जिनमें हृदय की माँग जीवन में नहीं, वे भौतिकवादी हैं। और जिनमें प्रीति की माँग जीवन में है, वे आस्तिकवादी हैं। हृदय

प्रेम से भरा हो, अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो और शरीर कहो, संसार कहो, उस में संयम, सदाचार और सुन्दरता हो।

ये तीन बातें हुईं—एक शरीर की उन्नति की, एक हृदय की उन्नति की और एक समझ की उन्नति की। शरीर में श्रम, सदाचार, संयम हो, हृदय में केवल प्रेम और समझ में अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो—जहाँ ये तीनों बातें आ जाती हैं, वहीं मानव-जीवन की पूर्णता होती है। सयम, श्रम, सदाचार, प्रेम और नित्य-जीवन यही मानव-जीवन है और यही मैंने अपने मन की बात कही।

परिशिष्ट

मानव-सेवा-संघ

(प्रधान कार्यालय, श्रीवृन्दावन, मथुरा)

सुन्दर व्यक्तियों से ही सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है; सुन्दर व्यक्ति ही अपनी सच्चरित्रता, आत्मविश्वास तथा अपने विवेक-बल से समाज की सेवा कर उसे सुन्दर बना सकता है; और सुन्दर व्यक्तित्व का सृजन संभव है केवल आध्यात्मिकता तथा आस्तिकता के द्वारा; अतएव इनके द्वारा ही व्यक्ति-निर्माण कर, मानव-समाज को स्वस्थ और सुन्दर बनाने के उद्देश्य से ही मानव-सेवा-संघ का जन्म हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, निम्नलिखित नियमों में विश्वास करना तथा उनके अनुसार जीवन बनाने का प्रयत्न करना इस संस्था के सदस्यों के लिए नितान्त अनिवार्य है।

नियम

१—आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, हृदय अनुरागी, बुद्धि विवेकवती तथा अहम् को अभिमानशून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।